स्वामी प्रज्ञानपाद :
पत्र-संकलन

स्वामी प्रज्ञानपाद पत्र-परियोजना की ओर से

प्रकाशक
अधिकारीलाल साध
डी-३३, साउथ एक्सटेंशन II, नई दिल्ली-११००४९

आभार

स्वामी प्रज्ञानपाद ने अपने शिष्यों तथा श्रद्धालुओं को जो पत्र लिखे थे उनका संग्रह, मुद्रण और प्रकाशन उनके शिष्यों और श्रद्धालुओं के ही लाभार्थ किया जा रहा है। इन पत्रों का संग्रह किसी व्यावसायिक उद्देश्य से अथवा किसी प्रकार के आर्थिक लाभ के लिए नहीं है। पत्र देने वाले व्यक्तियों का हम आभार मानते हैं।

प्रस्तावना

स्वामी प्रज्ञानपाद से जिन लोगों का सम्पर्क नहीं हुआ वे उनके शिष्यों अथवा अनुयायियों से प्रायः पूछ बैठते हैं: "आपके स्वामी जी में ऐसी क्या विशेषता थी ? उनकी शिक्षा क्या थी ?"

स्वामी जी की यदि कोई शिक्षा थी—हालांकि वह स्वयं अक्सर यही कहते थे कि उनकी कोई शिक्षा नहीं—तो उसका प्रस्थान-बिन्दु था भिन्नता का सिद्धान्त, जो साधक के पथ पर उसका नित्य का संगी बन जाता है।

इस प्रकार, यदि उन सभी लोगों से मुलाकात की जाती जिन्हें कि स्वामी जी से पत्र मिले, तो प्रत्येक ने अलग-अलग रूप से स्वामी जी का वर्णन किया होता।

किसी के अनुसार "स्वामी जी ······ कलकत्ता विश्वविद्यालय से भौतिकी विद्या में एम० ए० की उपाधि प्राप्त करने वाले एक महान वैज्ञानिक थे जिन्होंने, गणित की स्वयं अपनी परिगणनाओं के आधार पर, सापेक्षता के सिद्धान्त के कुछ पहलुओं का लगभग उसी काल में आविष्कार कर लिया था जब कि आईंस्टाइन ने किया था: यदि वह उसी दिशा में आगे बढ़ते जाते तो निश्चय ही वह विज्ञान के क्षेत्र में बहुत ऊंचे उठते।"

किसी दूसरे के अनुसार, "तर्क और युक्ति से एक पल के लिये भी डिगे बिना स्वामी जी ने, प्रत्यक्ष अनुभव को ही अपनी आधार-भूमि बना, उन शाश्वत सत्यों को, जो कि परम्परागत वेशभूषा में हमारे लिये सारहीन हो उठे हैं, एक नई और ऐसी भाषा में प्रस्तुत किया जो इस युग के अनुरूप है।"

किसी अन्य के अनुसार, "मानव-चित्त का स्वामी जी को पूर्ण ज्ञान था। फ्रायड का अध्ययन वह सन् १९१० में ही करने लग गए थे, और उनकी चित्त विश्लेषण विद्या का और भी विकास करके उन्होंने उसका उपयोग साधारण चेतनावस्था के जीवन और अद्वैत के प्रत्यक्ष अनुभव के बीच की खाई को पाटने के लिये किया।"

किसी अन्य के अनुसार, "उपनिषदों और बौद्ध परम्परा का स्वामी जी का ज्ञान असाधारण था। वह स्वयं प्रज्ञान-रूप थे। प्राचीन गुरु-परम्परा में ही वह परम गुरु थे।"

अन्य किसी के अनुसार, "स्वामी जी सिद्ध पुरुष थे। वह पूर्ण थे: उनके सम्बन्ध में कुछ कहा नहीं जा सकता।"

किसी अन्य के अनुसार, "उन जैसा संवेदनशील पुरुष मैंने दूसरा नहीं देखा। अपने पास आने वालों के सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों को वह भांप सकते थे और जिसके साथ जैसी आवश्यकता होती ठीक वैसे ही पेश आते थे।"

किसी दूसरे के अनुसार, "वह प्रेम की मूर्ति थे—ऐसे प्रेम की, जो किसी के हृदय में एक बार प्रवेश कर जाने पर कभी घटता नहीं था, बल्कि जीवन की परिस्थितियों के अनुसार दिन पर दिन बढ़ता ही जाता था।"

और किसी अन्य के अनुसार, "स्वामी जी परम व्यावहारिक थे। किसी भी प्रकार का प्रसंग क्यों न छिड़ा हो, प्रश्नकर्ता की ही भाषा में और उसी के स्तर पर वह उत्तर देते थे जिससे उपस्थित विषय पर उनके पूरे अधिकार का पता चलता था—चाहे वह विषय कोई गूढ़ दार्शनिक समस्या हो, चाहे किसी आदिवासी संथाल का गांव सम्बन्धी कोई मामला, या किसी उद्योगपति के व्यावसायिक प्रबंध की बात, अथवा किसी गृहिणी का कोई घरेलू मसला…आदि।"

स्वामी जी द्वारा लिखे गए ये पत्र—जो हर उम्र के व्यक्तियों को ही नहीं जीवन के सभी क्षेत्रों और वर्गों के लोगों को लिखे गए हैं—फूलों के गुच्छे की ही भांति हैं। भिन्न-भिन्न लोगों को लिखी गई स्वामी जी की बातों के बीच यों पाठक को कहीं-कहीं विरोधाभास जैसा दिखाई दे सकता है, किन्तु प्रत्येक पत्र ही एक पृथक पुष्प की भांति है जो कि स्वतः पूर्ण है और जिसका सन्दर्भ स्वयं वही है।

अन्त में, गीता के सम्बन्ध में स्वामी जी के एक मन्तव्य की भी बात हम कह सकते हैं—कि "गीता को कोई नहीं पढ़ता; सभी अपनी-अपनी गीता पढ़ते हैं।" इस पत्र-संग्रह को प्रत्येक पाठक स्वभावतः अपनी ही दृष्टि से लेगा : हमारी आशा बस इतनी ही है कि इस गुच्छे में कुछ फूल तो ऐसे निकल ही आएंगे जिनकी सुगंध उसके दिल में बस जाए।

डेनियल रुमानॉफ़
अध्यक्ष, सम्पादक-मण्डल

भूमिका

स्वामी जी के एक जन्मदिन पर फरवरी १९७८ में कलकत्ते में उनके शिष्यों, अनुयायियों तथा श्रद्धालुओं का एक सम्मेलन इस उद्देश्य से हुआ था कि स्वामी जी द्वारा लिखे गए पत्रों के परिरक्षण, संग्रह, प्रकाशन तथा वितरण की कोई व्यवस्था की जा सके।

पहले कदम के तौर पर यह निश्चय किया गया कि स्वामी जी द्वारा लिखे गये पत्रों को संभाल कर रखा जाए। इसकी आवश्यकता इसलिये और भी अधिक थी कि लगभग पचास वर्षों की अवधि (१९२७—१९७४) में लिखे गए इन पत्रों में से कुछ को पढ़ पाना कठिन हो चला था क्योंकि किसी-किसी का कागज़ पीला ही नहीं पड़ गया था बल्कि गल तक चला था, और रोशनाई भी फीकी पड़ गई थी। कुछ पत्र तो पहले ही, उन्हें पाने वालों की मृत्यु अथवा निवास-परिवर्तन के कारण, खो या नष्ट हो गए थे।

जिन लोगों के पास स्वामी जी के पत्र थे उनके पास से उनका संग्रह करने अथवा उनकी सही नकल प्राप्त करने के हेतु, और यदि पत्र पाने वालों को आपत्ति न हो तो उन्हें प्रकाशित करने के निमित्त, एक सम्पादक-मण्डल को यह काम सौंपा गया।

सम्मेलन ने यह निर्णय भी लिया कि इन पत्रों का वितरण अथवा प्रसार प्रचलित व्यावसायिक आधार पर नहीं किया जायगा, न इससे कोई आर्थिक लाभ उठाया जायगा; साथ ही यह, कि पत्र देने वालों को पत्र-संग्रह की प्रकाशित प्रतियां बिना मूल्य और कुछ अतिरिक्त प्रतियों के साथ दी जाएं—ताकि वे उन्हें अपने मित्रों को भी दे सकें।

पत्रों का सम्पादन करते समय जिन सिद्धान्तों को सामने रखा गया वे ये हैं:

१. मूल पत्रों की प्रामाणिकता

सभी पत्र या तो मूल पत्रों से नकल किये गए हैं, या उनके फोटो से। सम्पादक-मण्डल ने इस बात पर यथाशक्ति पूरा ध्यान रखा है कि स्वामी जी द्वारा लिखा गया प्रत्येक शब्द ज्यों का त्यों रहे। पाठकों को यहां याद रखना

स्वामी प्रज्ञानपाद

१८९१ : ८ फरवरी को कलकत्ता (बंगाल) के निकट चिसुरा में एक ब्राह्मण चट्टोपाध्याय वंश में जन्म : माता-पिता के कुल पांच बच्चों में चौथे; नाम योगेश्वर। माता-पिता तथा ज्येष्ठ भ्राता की प्लेग की महामारी में सभी मृत्यु जब वह १०-११ साल के ही थे। सेज-दा (तीसरे भाई) लक्ष्मी नारायण के तत्त्वावधान में विद्योपार्जन।

१८९९ : परेशनाथ धर ('काका' परेश—जन्म १८९५) के साथ सम्पर्क; बाद को यही उनके परम अन्तरंग मित्र हुए।

१९१६ : श्रीरामपुर से बी० ए० किया।

१९१८ : भौतिकी विद्या में एम० ए० किया; कलकत्ता विश्वविद्यालय में प्रथम स्थान—स्वर्ण-पदक से अलंकृत।

१९१९ : अनसूया देवी (जन्म १९०७) के साथ विवाह।

१९१८-२०: टी. एन. जी. कालेज, भागलपुर और बी. एन. कालेज पटना मे प्राध्यापक।

१९२०-२१: भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के आह्वान पर असहयोग।

१९२१ : निरालम्ब स्वामी से, जो बाद को उनके गुरु हुए, प्रथम साक्षात्कार।

१९२१-२२: नैशनल मेडिकल कालेज, ढाका में प्राध्यापक; बाद को विहार विद्यापीठ मे।

१९२३ : काशी विद्यापीठ मे प्राध्यापक होकर आए।

१९२५ : सन्यास : कुछ मास हिमालय-भ्रमण : काशी विद्यापीठ में पुनरागमन।
कन्या चिन्मयी का जन्म।

१९२८ : फ्रायड का अध्ययन करने पर चित्त-विश्लेपण विद्या के प्रयोग अपने कुछ छात्र-शिष्यों के साथ (गोवर्धन, शुकदेव, वेंकटेश्वर, कन्हैयालाल ··· आदि) शुरू किये।

१९३० : निरालम्ब स्वामी के देह-त्याग के बाद बर्दवान जिले (बंगाल) मे चान्ना आश्रम का भार ग्रहण।

१९४२ : एक साथ कई शिष्यों के मानस उपचार का कार्य नियमित रूप से आरंभ किया, जिसका आधार फ्रायड की चित्त-विश्लेपण विद्या था,

किन्तु जिसे उन्होंने और भी विकसित करके 'मनोनाश' का उन्नत रूप दिया था।

कुछ वर्ष वाद प्रायः ही रक्तचाप अधिक रहने लगा और कभी कभी हृदय-रोग के लक्षण प्रकट हुए।

१९४६ : वर्षा ऋतु प्रायः वाहर ही कहीं—वरानगर, पटना, हरद्वार, मसूरी, रांची, आनन्दकुटी (सरिया; हजारीवाग), आदि में—विताने के वाद, प्रसाद (रांची) में वर्षाकालीन आश्रम की स्थापना।

१९६६ : फ्रांस की प्रथम विदेश-यात्रा—वु-ला-रेइन में : फ्रेंच शिष्यों का मानस उपचार आरंभ।

१९६८ : मसूरी में, जहां ऑलिविये और एनिमन ने उनके साथ रहने की व्यवस्था की थी, अत्यधिक अस्वस्थ।

१९७० : वर्षाकालीन आश्रम प्रसाद से हट कर हेहल (रांची) में स्थापित।

१९७२ : कठिन हृदय-रोग।

१९७३ : फ्रांस की द्वितीय यात्रा : सों मुलें।

१९७४ : २४ सितम्वर—रांची आश्रम में देह-त्याग।

पत्रावली-क्रम

काशी, ५-५-८४
[२१-८-१९२७]

शुभाशीर्वाद,

अपनी प्रकृति का कभी अमान्य न करना'''अपने स्वभाव के साथ विचारपूर्वक चलना। अपनी प्रकृति जो कहती है, उसको समझ कर धीरे-धीरे उसके साथ चलते हुए उसका क्षय करना'''। तब हां—मन में अगर कोई आदर्श की आग लग गयी हो, तो उस आग को साथ लेकर जो विषय-वासना है, धीरे-धीरे उसका क्षय करना—भोग के द्वारा—अर्थात् थोड़ा बहुत उसके साथ जाते हुए उसको अपने आदर्श की तरफ खींचना है।'''सब बात का निचोड़ यह है—"संयम के साथ भोग ही से विषय-वासना घट जाती है। कुछ हद तक इस रीति से घटने के बाद और जो कुछ काम—यह प्रथम साधना है। संयम के साथ विषय का मिथ्या भाव को स्मरण मे रखते हुए वासना की पूर्ति।"

याद रखना भोग बिना योग नहीं! जो भोगी वही योगी। भोग में भी शक्ति का प्रयोजन, यह शक्ति जब बाहर के भोग से तृप्त होती है—तब वह उलट कर भीतर की ओर दौड़ती है—तब योग।

विचारपूर्वक विषय के साथ रहना—भोग है—मनुष्यत्व। विचारहीन होकर विषय के साथ रहना—उपभोग है—पशुत्व।

भोग से विषय वासना का नाश, और उपभोग से विषय वासना की वृद्धि। इसलिए शास्त्र में कहा :—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते।

काम के उपभोग से काम की शान्ति नहीं है—बल्कि वृद्धि है—जैसे आग के ऊपर घी डालने से आग बुझती नहीं, बल्कि और भी बढ़ती है।

नकल कभी अच्छा नहीं है—आदर्श को सामने रखते हुए अपनी स्थिति के अनुसार चलते हुए उस आदर्श को प्राप्त करने की

चेष्टा ही पथ है।……

जिस काम को जिस समय करना उसको सत्य मान कर पूरे दिल से करना—यही वीर का धर्म है—और वीर के लिए ही सब है—वाहर व भीतर।…दृढ़ता के साथ काम करो, शरीर व मन को मजवूत वनाना चाहिए…अपने काम को दृढ़ता से करना।… शक्ति चाहिए, तेज चाहिए, कमजोर के लिए कुछ नहीं है।

'जो हक (सत्य) को दिल में पहिचाना'—
उसके लिए ही "खुशी से खा" etc.। उसके पहले संयम के साथ खा, पी। खाना-पीना चाहिए—भोग चाहिए पर संयम के साथ। इन वातों पर मनन करना।

योगेश्वर

कनखल, ७-६-१९२९

शुभाशीर्वाद,

……ठीक समय पर कार्य न होने से सव उलट पलट हो जाता है; फिर हजार प्रयत्न करने से भी सुधार होना कठिन होता है। आत्मनिर्भरता अवलंवन करना चाहिए। दूसरे स्थान से केवल वीज मात्र मिलता है, फिर ठीक समय पर जमीन तैयार करना, वीज वोना, जल देना, हिफाजत करना, सव ही अपने ऊपर है। वनि-वनाई कहीं मिलता नहीं।……

योगेश्वर

इलाहावाद, ३-१०-८६
[जनवरी १९३०]

शुभाशीर्वाद,

……जप के लिए मन को एकाग्र करना तो है नहीं, खाली, relaxed करना है, किसी भी वात पर मन को एकाग्र न करना, वरन् कोई भी वात मन में न रहे यही मात्र करना, और आप से आप विना conscious concentration के जप करते रहना।……

स्थान, काल तथा पात्र के प्रति ध्यान रख कर काम ठीक करना है।

योगेश्वर

काशी, ७-६-८७
[२५-६-१९३०]

शुभाशीर्वाद,

·· ···तुम लोगों को यहां पर इस समय आने के संबंध मे "ना" लिखने का यह कारण है,

गत ५-६-३० को परमहंस स्वामी निरालम्ब स्वरूप-विलीन हो गये हैं (उनका शरीर छुट गया है)। उनसे मेरा संबंध क्या था तुमको मालूम ही है। उनका शरीर नष्ट होने से आश्रम का बन्दोबस्त करना, रक्षा करना आदि काम एक प्रकार से मेरे ऊपर आनेवाला है। उस तरफ के लोगो के पत्र, आवेदन आ रहे है, जिस समय कलकत्ते मे उनका शरीर छुटा उस समय भी लोग मुझ को अनुरोध, प्रार्थना कर रहे थे। आश्रम मे उनकी अस्थि का समाधि हो गया, दो चार दिनो मे वहा पर सब शिष्य, भक्तों का मिलन होगा, उस समय वहा पर जाना है और यह भी प्राय. निश्चय है कि तदनन्तर काशी से आसन उठेगा, वहा पर ही आसन होगा। इस स्थिति मे, इस अनिश्चय अवस्था में तुम लोगों का यहा पर आना युक्तियुक्त नही है, इस कारण आने को निषेध किया। सब स्थिर हो जाने से तुमको संवाद मिलेगा, यह भी संभव है कि इस समय शैल का आना स्थगित ही करना पड़े। अवश्य सब स्थिर होने के बाद मां जहां रहेंगी, वहां पर सुविधा होने से शैल भी आ सकेगी। यदि आश्रम में जाना स्थिर हो जाए तो मां का भार भी तो तुम लोगों पर रहेगा। ठीक समय पर सब संवाद मिलेगा; तब तक मन अस्थिर न कर अपना काम करते रहो।

योगेश्वर

आश्रम, ४-७-८७
[२२-१०-१९३०]

प्रज्ञानपाद का शुभाशीर्वाद,

कल यहां पर आ गया।···नियम के प्रति ध्यान रखकर, धीर निष्ठा के साथ काम करना; विचार-दृष्टि हमेशा जाग्रत रखना।

आश्रम, २५ दिसंबर, १९३०

शुभाशीर्वाद,

(१) एक रीति से शरीर का धर्म ही यही कामाकर्षण है। जब तक यह कार्य असार, दुःखद मालूम न होगा, तब तक इस ओर आकर्षण होगा; पर यह आकर्षण दो प्रकार के हैं,—एक पशु-पक्षी के, और दूसरा मनुष्य के। पहला है स्वाभाविक, स्वास्थ्यकर; दूसरा है अस्वाभाविक, अस्वास्थ्यकर!! मनुष्य इस दृष्टि से पशु से अधम है। नियत, संयत जीवन में (जैसा पशु में) नियमानुसार इस वृत्ति का उदय होता है; परंतु मनुष्य का जीवन अनियत, असंयत होने के कारण हमेशा रोग के रूप में यह वृत्ति आती रहती है। जिसका जीवन शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य से अलंकृत है, अर्थात् जो शरीर और मन से सब **'अति का वर्जन'** किया है, जो किसी भी प्रकार से (काय, वाक, मन) over-work न होने देता, अर्थात् जो विरक्त, अवसन्न, क्रोधित, हताश, क्लिष्ट न होता, जिसमें थकावट ज्यादा न होता, कर्म में monotony नहीं होती, अति-भोजन आदि का जिसमें वर्जन है, उत्कण्ठा, worry आदि जिसमें नहीं है, अर्थात् जिसका जीवन हमेशा एक सुन्दर सुचालित यन्त्र की भांति अपना काम करता जाता है उसके मन में अस्वास्थ्यकर काम-भाव नहीं आता है; और जो भी आता है वह उसके स्वास्थ्य के अनुकूल है।······

(२) जप के संबंध में। जप ठीक से होता है या नहीं यही बात पहले देखना चाहिए। फिर **अभ्यास नित्य नियमित** चलता है या नहीं—देखना। तीसरी बात है,—जप का अर्थ ठीक-ठीक

मालूम हुआ है या नही। जिस प्रकार एक कांटी (nail) को गाड़ने के लिए उसके सिर पर ध्यान रखना है, और ठीक उसी पर धीरे धीरे बार बार आघात करते जाना चाहिए, तभी वह भीतर घुसता है,—उसी प्रकार मन की भी क्रिया है। श्रद्धा के साथ, वीर्य के साथ, निरंतर काम करते जाने से फल अनिवार्य है। फल नही मालूम होता है तो फिर—"हां पहले से मन अधिक एकाग्र स्थिर होता जा रहा है"—का अर्थ क्या है? विश्वास रखो, विचार-दृष्टि को साफ करो, दृढ़ता से काम करते जावो।……

आनन्द से रहो।

प्र०

आश्रम, ५-१०-८७
[१८-१-१९३१]

प्रज्ञानपाद का शुभाशीर्वाद।

……सर्वदा सचेत सजाग रहने की आन्तरिक प्रचेष्टा करना।

आश्रम, ७-८-१९३१

शुभाशीर्वाद,

……आजकल लोग अर्थ का भी अनर्थ करते है—'परमहंस' शब्द का अर्थ क्या है—इसका ख्याल करना, जिनके अन्दर सोऽहम्-बोध हुआ, वे 'हंस', फिर जिनके अन्दर यह बोध दृढ है—वही है परमहंस, एकमात्र आत्मज्ञ पुरुष ही शोक का पार करते है, वे ही परमहंस हैं। राम-दास-दास कभी प्रभु हो सकते हैं? जो परमहंस है वह 'स्वराट्' है, सम्राट् है, 'अन्योऽसौ अन्योऽहम् इति स न वेद'—तत्व कुछ है और मैं कुछ दूसरा हूं—यह बोध जिसका, वह जानता नहीं है; 'पशुरेव हि स देवानाम्'—वह देवताओं के पशु हैं—ये सब वेद-वचन हैं। ईश्वर अलग, मैं अलग—यह बोध जिसमे है—वह पशु है—मानव-धर्म का ज्ञान उसे नही है—परमहंस

क्या बात ? भक्त कभी परमहंस नहीं हो सकता। पर आजकल सब विपरीत है। अपनी दृष्टि साफ़ रखने का प्रयत्न करो—दूसरों के प्रति देखने की क्या आवश्यकता है? शुद्ध दृष्टि अति दुर्लभ वस्तु है।

केवल जप में तत्पर रहो।···दृष्टि साफ़ रखने की चेष्टा करना,—वस्तु-तत्व क्या है—facts क्या हैं इस पर ध्यान देना—

प्रज्ञानपाद

आश्रम, २५-८-१९३१

शुभाशीर्वाद,

······वस्तु जैसी है ठीक वैसी ही देखने के लिए प्रयत्न करने से कल्याण है—

प्रज्ञानपाद

आश्रम, ४-९-१९३१

शुभाशीर्वाद,

······हां, जहां तक हो सके अपना अलग प्रबन्ध कर लेना। मनुष्य में द्वेष-भाव प्रधान है—क्योंकि भिन्न-दर्शन ही जीवत्व है, और एकत्व-दर्शन ही परमार्थ-तत्व है। जब तक जीव-भाव, तब तक भिन्न-दर्शन और तब तक द्वेष-भाव ही प्रधान है।······

साक्षात्-रूप से काम करने के लिए मंत्री के साथ परामर्श और पहले से निश्चय कर लेना चाहिए। कोई भी काम अस्पष्ट न रखना; क्योंकि मनुष्य कभी एक मानसिक स्थिति में रहने के कारण कुछ कहता है, फिर दूसरे समय दूसरी स्थिति में रहने के कारण और कुछ कह सकता है।

पहले ही कहा गया है कि यथासम्भव अपने आय का इस प्रकार विभाग करना :

२५%—अपना खर्च

२५%—सद्व्यक्तियों को दान

२५%—शिक्षा, दुःख-दूर करना आदि के लिए दान
(पिता-माता इनके भीतर)
२५%—संचय

जो लोग खुद संचय न कर सकते—उनके लिए Insurance ठीक है, पर जो लोग खुद संचय कर सके उनके लिए Insurance नुकसान की चीज है……

प्र०

आश्रम, ११-६-१६३१

शुभाशीर्वाद,

जल्दी किसी काम को न करना चाहिए। धीरता के साथ शान्त रहकर सब सोच विचार कर किसी काम को करने से फल मिलता है।…जीवन के प्रतिक्षण में शान्त-भाव का अवलम्बन चाहिए। यह भाव नस नस में रमता रहना चाहिए।

प्रज्ञानपाद

आश्रम, १०-१०-१६३१

शुभाशीर्वाद,

…… हमेशा सजग रहना ही काम है, विषय-प्रीति हमेशा सब भुला देती है—

प्रज्ञानपाद

नेलोर, २-१२-१६३१

शुभाशीर्वाद,

… …अभ्यास धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिए। अपने वर्तमान कर्तव्य को ठीक तरह से करते हुए 'जपाभ्यास' को दृढ़ करते रहना। दोनों ओर से काम करते रहने से समय पर फल मिल जाएगा। धीरता और निष्ठा के साथ चलते रहना ही सफलता

प्राप्त करने का उपाय है।···दृढ़ और तीव्र इच्छा पैदा करना ही सबसे पहला कार्य है। सब कार्यों को करते समय दृष्टि सजग रहे। ···सहज-सहज सब कार्यों को करते रहना चाहिए। जितना ही जप की दृढ़ता होगी उतना ही काम में शान्त-भाव आ जाएगा, यदि उसके साथ सजग भाव रहे।······

प्रज्ञानपाद

वरानगर, १४-१-१६३२

शुभाशीर्वाद,

हां, श्री कन्हैयालाल का शरीर छुट गया। तुम जैसे कभी मुंगेर, पटना, मधुवनी, अहमदाबाद, उलाव—आदि स्थानों में अपनी तत्कालीन वासना की स्थिति के अनुसार घूम रहे हो वैसे ही जीव मात्र अपनी अपनी वासनाओं की स्थिति के अनुसार एक जीवन से दूसरे जीवन में घूमते फिरता है। जब तक किसी शरीर के साथ रहने से वासना-पुष्टि के अनुकूल परिस्थिति मिलती रहती है तब तक उस शरीर के साथ रहना है, फिर जिस समय यह मालूम हो जाता है कि उस वर्तमान शरीर से और कोई आशा नहीं है— तब उसे छोड़ देकर जीव दूसरा अनुकूल शरीर ग्रहण करता है— इसका नाम ही मृत्यु और जन्म। इस जन्म-मृत्यु के चक्र से घूमते हुए जीव चलता रहता है, जब तक न उसके वासना-पुञ्ज का सम्पूर्ण निर्वाण हो जाए। वासना से कर्म, कर्म से जन्म, जन्म से मृत्यु, मृत्यु से जन्म—यही चक्र।

···वीरता के साथ काम करते रहो, सजग रहकर अपनी क्रियाओं पर ध्यान रक्खो, और साथ साथ जप-भावना को निष्ठा के साथ कायम रक्खो,—अवश्य ही सुफल मिलेगा।

किसी भी काम को जल्दी से न करना चाहिए; अपना पथ ठीक से समझ लेकर काम करना चाहिए। शिल्पशाला को जो वचन दिया है, पूर्णतया अनिवार्य न होने से उसे निभाना चाहिए।······

प्रज्ञानपाद

आश्रम, ८-२-१६३४

शुभाशीर्वाद,

शैल सकुशल प्रसूता हुई; अच्छी बात है। पुत्र-कन्या में कोई भेद नहीं है। दोनों का नाम ही है "सन्तान्"। मनुष्य स्वार्थ-बुद्धि के कारण दोनों में भेद करता है, पर धर्म-बुद्धि के सामने दोनों में किसी प्रकार का भी भेद नहीं होना चाहिए—पिता-माता के मन में। जितना ही जिम्मेदारी बढ़ती है और उसे धर्म-भाव से पूरा करने की चेष्टा होती है, उतना ही बुद्धि का विकास होता है क्योंकि उतना ही वस्तु-स्थिति का ज्ञान होता है।

प्रज्ञानपाद

आश्रम, २४-१२-१६३४

शुभाशीर्वाद,

दोनो पति-पत्नी ठीक तरह से आपस में रमते हुए एक दूसरे का हर प्रकार का साथी होते रहो—यही विवाह का उद्देश्य और आदर्श है।

सहज-धीर गति से चलने का अभ्यास ही सब सुखों का मूल है। सुतरां अपने हृदय-वेग को देख कर ही—जो-है-सो-है—उसका ठीक ठीक ज्ञान रख कर ही अपना भविष्यत् कार्य-क्रम तै करना है; अपने सच्चे जीवन-भाव को देख कर चलने से ही जीवन में शक्ति, सुख, शान्ति मिल सकती है। किसी पराये आदर्श—जो अपनी स्थिति से बहुत दूर हो—के पीछे चलने से अनर्थ हो जाता है। जो-है-सो-है हर समय, हर अवस्था में स्मरण रखना चाहिए।

अपने हृदय से जो इच्छा आप-से-आप प्रकट हो—जहां तक हो सके जान-बूझ कर उसे स्वीकार कर उसका भोग उचित मात्रा में कर लेने में दोष नहीं है।

योग-वासिष्ठ पढ़ सकते हो।……

प्रज्ञानपाद

बराहनगर, ६-१०-१९३७

शुभाशीर्वाद,

शैल की मां चली गयी। जो कुछ बीत रहा है, वह सब भलाई के लिए ही है। पर हां, बूढ़ी मां थी—स्नेह का अवलम्बन था—वह भी गयी। ठीक ही है—अब हर तरह से शैल मां हो गयी—लड़कीपन छूट गयी। ठीक समय पर ही उसकी दीक्षा-शिक्षा हुई थी—

मौत क्या है, मौत से डरने की कोई बात नहीं है—**सब 'हरि' है**—यह महामंत्र उसके हृदय में शान्ति देगा—सब 'हरि-हरि'—सब हरण हो रहा है, सब नष्ट हो रहा है, सब कुछ मर रहा है—**सब उदय-अस्तमय है**। हरिनाम, 'हरेकृष्ण' नाम का जप हमेशा करते रहो, उसी भाव में दिल भर लो—कोई चिन्ता, कोई अशान्ति नहीं रहेगी—दिल शान्ति के समुन्दर में डूबता रहेगा।···हमेशा सजग रहकर जप करना······

प्रज्ञानपाद

आश्रम, १०-३-१९३८

शुभाशीर्वाद,

जो है—सो है=अपनी परिस्थिति जैसी हो उसे आनन्द के साथ ग्रहण (स्वीकार) करते हुए उसका सुधार करना चाहिए—घबड़ाने से क्या होगा ?···स्थिर धीर होकर परिस्थिति देखते हुए जो-है-सो-है का ख्याल करो—सब ठीक हो जाएगा—

प्र०

प्रसाद, ७-५-१९४१

हमेशा यह संतोष अपने अन्दर रखना चाहिए कि जितनी दूर तक हम से हो सका उतनी दूर तक कोशिश की है। अपनी शक्तिभर काम करने के बाद अवश्य ही यह संतोष आ जाता।······

प्र०

लालपुर रांची, २०-७-१९४२

शुभाशीर्वाद,

......सब परिवर्तन है, सब बदलने वाला है, कुछ भी स्थिर नहीं है, जन्म होने से ही उसके साथ मृत्यु है ही, उदय के साथ अस्त लगा हुआ है,—यह बात भूलना नहीं, यही तो सबसे पहली बात याद रखने की है—

प्रज्ञानपाद

बरानगर, २५-१०-१९४२

शुभाशीर्वाद,

हर समय हर परिस्थिति में वस्तुस्थिति क्या है—देखने के लिए और उसी के मुताबिक चलने के लिए कोशिश करते रहना—इससे आनन्द हमेशा अटूट रहेगा—

प्रज्ञानपाद

आनन्दकुटी, सरिया, २७-७-१९४३

शुभाशीर्वाद,

यह तुम्हारा अच्छा अनुभव है ही। "निर्भर" किस पर ? तुम क्या सोचते हो ? तुम्हारी जानकारी और उसके बाहर कौन कौन शक्तियां तुम्हारे अन्दर काम कर रही हैं ? जितना जानते हो उतना तो तुम्हारी बुद्धि से परिस्थिति को देखते हुए काम करोगे—उसके आगे फिर ? बुद्धि जहां तक काम देती वहां तक तो अपना पुरुषकार सब कुछ है, पर उतना करते हुए जब कुछ बाकी रह जाता है उसके लिये मन को किस पर निर्भर रखना चाहिए ? "सारी कठिनाइयों, आपत्तियों, प्रतिकूल घटनाओं को ([illegible] तात्कालिक बुद्धि से हल करते हुए भी) किस light में" [illegible] संसार में तुम क्या एक अलग व्यक्ति हो ? संसार में तरह तरह के सम्बन्धों से युक्त लोग और परिस्थितियों से तुम्हारा [illegible] नियम पर होता है ? सब कुछ accident है या [illegible]

order भी है ? है तो उसको चलानेवाला हर एक व्यक्ति के जीवन में कौन है ? सारी विचित्रताओं को "किस line पर किस 'भाव दृष्टिकोण' से ले" चलना है ? किस सूत्र में सबको बंधना है ?......

प्रज्ञानपाद

आनन्दकुटी, १-९-१९४३

शुभाशीर्वाद,

सचमुच ही "Busy World" है क्या ? जो भी हो World के लिये आदमी नहीं, मनुष्य के लिये ही World है। जो चाहे वह समय निकाल ही ले सकता। सब कुछ "मन माने की बात है"।

हां, असल में मन माने की बात ही सत्य है। सिर्फ इतना ख्याल रखना पड़ता है कि मन किसे मानता है—सत्य को या असत्य कल्पना को। सब कुछ ही तो अपनी मौज के लिये है न ? मन ऐसा कुछ मान न बैठे कि उसमें मौज है पर असल में उसे दुःख आखिर मिल जाय ! हमेशा मौज रहे मन ऐसा माने तो ठीक है न ?

अब मन किसे कहा जाय ! जितना जानकारी के भीतर है उतना ही मन है या नहीं-मालूम—ऐसा भी, अज्ञात भी कुछ मन है ! "अपनी बुद्धि और शक्ति भर प्रयत्न करते हुए भी जो असफलताएं हों" उनके लिये कौन जिम्मेदार है ? उसमें दो हिस्से हैं—अज्ञात मन का और बाहर की परिस्थिति का :—ये ही "जो-है-सो-है" के अन्दर है।—एक बात और :—सब कुछ ही कार्य-कारण से बंधा हुआ है,—accident कुछ है नहीं; कार्य-कारण-संबंध नहीं मालूम होने पर accident कहा जाता है।

"Busy World" में और ज्यादह नहीं।

प्रज्ञानपाद

आनन्दकुटी, १२-१०-१९४३

शुभाशीर्वाद,

संसार संसार—सर्-सर् खिसकनेवाला है। संयोग वियोग के लिये, सुख दु:ख के लिये, सम्पद विपद के लिये, जन्म मृत्यु के लिये हैं। इन दोनों भावों के संयोग से ही जीवन है: एक के होने पर दूसरा अनिवार्य है। इन दोनों भावों के प्रति मन को समान रूप से रखने का प्रयत्न ही प्रज्ञान का पथ है, और इसी से ही आनन्द है। मन के दोनों दरवाजों को खोलना।

धीरता से उस पत्र को पढकर दोनों मिलकर देखो—पिछला मर्तबा शैल का चेहरा जैसा उतरा हुआ, मानों ६० वर्ष का, देखा था वैसा क्षण भर के लिये भी देखना ठीक नहीं है। जो प्रज्ञान के पथ पर चलेगा, उसका चेहरा चिर-कैशोर के आनन्द से भरा रहना चाहिए। नहीं तो सब बेकार है—

प्रज्ञानपाद

आनन्दकुटी, ३०-११-१९४३

शुभाशीर्वाद,

हृदय के भावों मे जो जटिलता है उसको पहले साफ करते हुए बुद्धि को सतेज बनाना ही काम है—सिर्फ बुद्धि को विचार से शक्ति नही मिलती—निरुद्ध भाव भीतर से बुद्धि पर पीछे से खिचाव डालते रहते है—इसलिए पहले उस निरुद्ध—दबे हुए-भावों को शुद्ध करना है। इसलिए ही साथ रहने की जरूरत है। उसके साथ और बातें।··· ··

प्रज्ञानपाद

वरानगर, ७-६-१९४४

शुभाशीर्वाद,

……हर एक मनुष्य अपने भाग्य के अधीन है,—वस्तु-स्थिति जैसी आ जाती है उसको स्वीकार करने में ही जीवन की शक्ति है,—यदि न उसे बदला जा सके।

प्रज्ञानपाद

१८-६-१९४९

तन्त्रशास्त्र के बारे में काफी संक्षेप में ही लिखा जा सकता है—व्यंजन से कहना तो संभव नहीं है।

तन्त्रदर्शन और तन्त्रसाधना की मूल बात यह है कि वह जीवन को पूरी तरह से स्वीकार कर जीवन के हर रस को भोग कर 'सर्वरस रसिक' होते हुए सबों के बीच रहते हुए भी सबों से मुक्त रहना सीखाते हैं। जीवन को महाशक्ति की लीला की दृष्टि से देखना, तन्त्रदर्शन का सार है—अनन्तरूप में सक्रिय माया-शक्ति जब अपनी सारी लीला से तृप्त हो जाती है तब वह अपनी स्वरूप सत्ता—'शिव' सत्ता—में विलीन हो जाती है; वह शिवसत्ता है निरुपाधि, निर्गुण, निष्क्रिय, केवल—और जीवन है शिव-शक्ति का संयोग :

शिवशक्तिसमायोगाज्जायते सृष्टिकल्पना।

साधन है—शक्ति के स्फुरण के रूप में है जीव—साधक। साधक के क्रिया के स्थल हैं अन्तर और बाह्य (Subjective and Objective) : अन्तर की शक्ति का उद्बोधन—और उस उद्बुद्ध शक्ति को अपने भोगों में लगाना। शक्ति है 'कुण्डलिनी' के रूप में सुप्त, शरीर के अन्दर इड़ा-पिंगला-सुषुम्ना नाड़ियों के भीतर : "चक्रों" के अन्दर बद्ध। खासकर चक्र हैं ६—'षट्चक्र' (Plexus-Central, Sympathetic and parasympathetic nervous system)—मूलाधार—→स्वाधिष्ठान—→मणिपुर —→अनाहत—→विशुद्ध—→आज्ञा।

मूलाधार मे कुण्डलिनी शक्ति कुण्डलीकृत होकर सुप्त है—उसको जगाना है साधना का प्रथम कार्य। साधक धीरे-धीरे उस कुण्डलिनी मायाशक्ति को जगाते हुए स्वाधिष्ठान मणिपुर अनाहत आदि।

६-८-१९५२

कल एक बात छूट गयी, और वह है Literature के बारे मे। आम तौर पर लोग उसे Literature कहा करते है जिसमें हृदय-भावों का काल्पनिक वर्णन रहता है—जैसे Poetry, Stories, Novels, Dramas। मगर वस्तुत: वह है Emotional Literature। भाव-विलास के लिए उसकी जरूरत है जरूर ही, पर उसका स्वाद तो तुमको मिल ही गया और आसानी से मिल जा सकता; उसके लिए खास तौर पर पढने की आवश्यकता नही है।

पर Literature तो बहुत ही व्यापक चीज है : जहा भी किसी विषय का वर्णन हो वही है Literature। हल्की चीजों के वर्णन है Light Literature, जैसे भ्रमण, कहानिया आदि। दूसरा है Serious Literature; जिसमें गंभीर विषयों का वर्णन हो—Historical Literature; Philosophical Literature, Scientific Literature, Artistic Literature आदि, आदि। जहां पर वर्णन की शैली सहज स्वच्छ हो, भाषा सावलील

हो तो उसका विषय-वस्तु गंभीर दार्शनिक होने के बावजूद उसे खास Literature का सम्मान मिलता है; जैसे .फ्रेंच दार्शनिक Bergson के Creative Evolution ग्रन्थ को Literature में Nobel Prize मिलने का सम्मान मिला।

४-११-१९५३

······अपने आप में रहना ही सारी शक्ति का उत्स है······

प्र०

आश्रम, १८-१२-१९५४

शुभाशीर्वाद,

······सजग रहना, सजग रहना—और कोई काम नहीं है। सतत सावधानता ही सत्य के आश्रय का आधार है—जब कभी न जान कर काम होगा उस समय अपनी मौत है।

प्र०

प्रसाद, ३०-१०-१९५५

शुभाशीर्वाद,

तुम्हारा ५१वां वर्ष पूरा हो गया—चलो—अब और देर नहीं करना, समय यों ही नहीं बिताना—अपने को देखो—सजग रह कर काम करो—

कब कहां किस रूप में रह रहे हो—इसे हमेशा देखने का अनुभव करने का और वही हो जाने का प्रयास करो! मन को बिखरने न दो।

प्र०

प्रसाद, १४-१२-१९५६

शुभाशीर्वाद,

……सचेत, सजग, जागरूक, सावधान रहना हर मिनट पर, हर काम में।

प्र०

आश्रम, २४-१२-१९५८

शुभाशीर्वाद,

जो प्रज्ञान-पथ पर चलनेवाला, "जो है", "जो हो रहा है" —उसे जो स्वीकार करता है उसके लिए चिन्तित होने की नौबत ही कहां है? जहां तक अपनी जानकारी हो और उसके अनुसार जहां तक अपना वश हो वहां तक करने के बाद फिर जो है सो है; और क्या फिक्र है?

प्रज्ञानपाद

२-३-१९५९

जहां तक हो सके काम करो—जो भी करो—घबड़ाहट के साथ नहीं, बोझ मान कर नहीं—सहज रहकर करो। सहज कैसे होगा? जो है सो है: अभी यहां यही है! और यह सब ही मेरा है! करना पड़ता है नहीं, कर रहा हूं—मेरा ही है।—

आश्रम, १८-१२-१९५९

शुभाशीर्वाद,

……तुम्हारा "चित्त आनन्दमय" हो उठेगा—क्या सिर्फ परिस्थिति की अनुकूलता से? यही क्या आनन्द का स्वरूप है—परिस्थिति के अनुकूल होने से आनन्द सुख (?) और प्रतिकूल होने से दुःख? तब क्या प्रज्ञान की सेवा की तुमने? परिस्थिति बदलती रहती है—परिवर्तन है। जब जैसी परिस्थिति आवे तब उसे

स्वीकार करना है। हमेशा यह स्वीकार आनन्द देता है—अनुकूल-प्रतिकूल सब स्थितियों का स्वीकार—"हां, अभी ऐसा ही है, ऐसा ही हुआ"—फिर उसमें जो कुछ कर सकना सब कुछ ही अपनी शक्ति और संगति के अनुसार करना—हृदय आनन्दमय, कर्म में स्थिर धीर बुद्धि।

जो परिस्थिति आयी है, वह आयी ही है, तब? स्वीकार, स्वीकार, स्वीकार। फिर करना—बस, और क्या?

यही तो आनन्द की कुंजी है, चूंकि यह प्रज्ञान का प्रसाद है।

प्रज्ञानपाद

प्रसाद, ३०-५-१९६०

शुभाशीर्वाद,

मां के कष्ट दूर हुए—ठीक हुआ। उनके "हाथ से गोदान भी कराया गया"—अच्छा हुआ: उनका श्राद्ध इसी से हो गया—अब जो करना है वह अवान्तर मामूली काम है, क्योंकि श्राद्ध का अर्थ श्रद्धया देयम्—श्रद्धा से दिया हुआ: वह जिन्दे आदमी के लिए ही संभव है—जैसे महाभारत में जब युधिष्ठिर आदि वन चले गये तो काफी सद्ब्राह्मण लोग दुर्योधन के अधर्मराज्य में नहीं रहेंगे—धर्मराज युधिष्ठिर के पास ही रहेंगे—यह तय कर वन में गये: युधिष्ठिर ने कहा कि अब तो हम निःस्व हैं—हमारे पास तो कुछ नहीं है उपादेय चीज, हम किस तरह आप लोगों का श्राद्ध करेंगे?—मां का श्राद्ध गोदान से हो गया, अगर उन्होंने और कुछ कहा हो तो जहां तक संभव वैसा करो वरना अपनी रुचि के अनुसार करो।

प्रज्ञानपाद

प्रसाद, १६-६-१६६०

शुभाशीर्वाद,

……जो भी हो,—जो हो, उसे ही स्वीकार करो। सब—"अस्तु"—"ॐ"—"ठीक है" !! ……

प्र०

प्रसाद, २६-६-१६६०

शुभाशीर्वाद,

"जो हो उसे ही स्वीकार करो...सब 'अस्तु', सब 'ॐ'—सब 'ठीक है'।

अस्तु=हो, जो हो, जो हुआ—→हो रहा है—→होगा—'स्वीकार' है !!—→जो होने का सो हो !!

ॐ=हां, सब स्वीकार है—जो हो सो हो—क्योंकि 'होना' ही सत्य है : जो हुआ सो हुआ, होना था सो हुआ; "ऐसा होवे, वैसा न होवे—" असत्य ! आना-जाना सत्य है !

'ठीक है' सब ! जो हुआ सो ठीक है !
सब 'अस्तु', सब 'ॐ', हां, सब अच्छा
सब 'ठीक' है। सब स्वीकार है !
—→एक ही बात है।

प्र०

२३-१२-१६६०

अनिवार्य घट गया—तुम लोग तो स्थिति देख ही रहे थे, अनिवार्य हुआ। निवारण करने के लिए जितना तुम लोगों से संभव था सब कुछ ही किया तुम लोगों ने—जिस पर और वश नहीं रहा, उसे स्वीकार करना ही सत्य आनन्द और शान्ति का पथ है।……

स्वीकार करो, बाबा स्वीकार करो—

सत्य स्वीकार करो, आना-जाना ही संसार है, बल्कि जाने के लिए ही आना है, मृत्यु के लिए ही जन्म है जैसे अस्त के लिए ही उदय है सूर्य का। एक ही को न देखो, दोनों को देखो—क्योंकि दोनों ही सत्य का प्रकाश है—

प्रसाद, १४-८-१९६१

शुभाशीर्वाद,

घटनाओं की धारा चल रही है, उस धारा को उसी के नियम से न देखकर अपनी प्रियता, अच्छा-लगना या लाभ की दृष्टि से उन्हें देखने से अनुकूल होने पर सुख और प्रतिकूल लगने से दुःख होते हैं—ऐसा होना अनिवार्य है—जो हुआ, जो-हो-रहा-है उन्हें "होना-चाहिए" की दृष्टि से देखने से असत्य होता है, और इसलिए बुद्धि में उलझन और भावों में उथल-पुथल !! जो-हो-रहा-हैं उसे स्वीकार कर अपनी शक्ति के अनुसार अगर प्रयोजन मालूम हो तो प्रतिकार की कोशिश करनी चाहिए—यही करना है—मन-हृदय तृप्त-शान्त रहेगा।……

प्रज्ञानपाद

आश्रम, ३१-१-१९६२

शुभाशीर्वाद,

हां, सब परिवर्तन, कुछ भी स्थिर नहीं रहता, जब जो स्थिति आवे तब वही, यही सत्य है—जब जैसा तब तैसा ! "Uncertain life" ? यही तो सत्य, अनिवार्य !

जब तक इच्छा है तब तक उस इच्छा को स्वीकार कर काम करना, क्योंकि तब वही सत्य है, उसके बाद फिर——→तब ही 'Uncertain' का **पूरा बोध** होवे, हालांकि हमेशा देखने की कोशिश जारी रखना है। संसार—सर् सर् खिसकनेवाला है !!

प्र०

आश्रम, १६-२-१६६२

शुभाशीर्वाद,

ठीक है—शिवास्ते पन्थानः सन्तु—तुम्हारा पथ बाधाहीन हो—मंगल हो—

प्र०

प्रसाद, ७-६-१६६२

शुभाशीर्वाद,

……मंजूर करना, अपनाना, स्वीकार करना। सब संसार है—खिसक रहा है बदल रहा है—कुछ भी एक ही हालत में नहीं रहता—आता-जाता है—जो आया वह जायगा! तब? जब जो स्थिति आवे तब वह आयी,—"हां यह आयी"—सिर्फ इतना मंजूर करने से दिल दिमाग शान्त रहेंगे!

प्र०

आश्रम, ६-१-१६६३

शुभाशीर्वाद,

……सुविधा-असुविधा जीवन के हर अंग में है। इसलिए ही—जो है सो है।

देखो सत्य, दिल-दिमाग शान्त रहेंगे।

प्र०

आश्रम, १६-३-१६६४

शुभाशीर्वाद,

……"सत्य जानने पर आश्रित है"—

ठीक है! और जानना आश्रित है होने पर! न होने से जाना नहीं जाता! तब? सत्य जानना यानी सत्य होना है। सत्य क्या है—जो है सो है: कब कहां? अभी यहां! हमेशा हर स्थिति में उठते

बैठते भी उस स्थिति में रहना ही सत्य में रहना है !! कभी रहते हो ? शायद ही कभी रहते हो—सोचते हो कि रहते हो ! रहना है न कि सोचना है ।

देखो, सोचो नहीं—

प्र०

आश्रम, ४-५-१९६४

शुभाशीर्वाद,

……जितना करना था किया, बाद अपने हाथ में नहीं। जहां तक अपनी संगति और शक्ति वहां तक काम करना है, फिर बाद को निर्भर करता है बाहर की परिस्थिति के ऊपर ।……

प्र०

प्रसाद, २१-८-१९६४

……सब परिवर्तन है…अब करना क्या है ?…जब जो स्थिति आवे, उसे मंजूर करना । अब (अभी) यही है—यहीं पर मन एकाग्र रहे…आशा ही सब दुःखों की जड़ है—बाहरी कारणों (external factors) पर तुम्हारा वश नहीं—तब आशा बेकार। जो हुआ, जो हो रहा है—उसे ही लेना; आशा नहीं करना; संतुष्ट रहना अपने में होओ !…जो है सो है—अभी क्या करना है ?……

प्र०

प्रसाद, २५-८-१९६४

शुभाशीर्वाद,

……ठीक है—"बार बार पढ़ने की इच्छा होती है—मन में शक्ति मिलती है—ऐसा शैल भी कह रही है।"—बार बार पढ़ना ही है, ताकि वह सत्य दिल-दिमाग में बैठ जाने से अपना हो जाय; जब तक न अपना हो तब तक वह बाहर रह जाता है—काम नहीं

आता। पढ़ो—देखो, परख करो जीवन के हर अंग में—प्रत्यक्ष करो कि यह बात सत्य है। अपना हो जाय।······

सचेत रहो—

प्र०

आश्रम, ८-२-१९६५

शुभाशीर्वाद,

हां, "तैयार रहो···यह हुआ। जो हुआ, देखो भी वही हुआ। दूसरा और कुछ नहीं"—! सही।

कुछ भी घटना घटती है जब, कोई कुछ बोलता जब, तब उससे दिल में कुछ भी हल्चल होता है ? सुख-दु:ख-नाराजगी-भय-बेचैनी आदि आदि का उदय होता है ? क्यों होता है ? जो हुआ, उसे देखना नहीं चाहते हो, वैसा न होता—यही सोचते हो न ? तब ही न भावों का उदय ? भावों का उदय क्यों हुआ तब ? जो हुआ, उसे वही हुआ, और दूसरा कुछ भी नहीं—यह न देखकर सोचते हो दूसरा कुछ,—इसलिए ही नाराजगी-भय-बेचैनी आदि। तब ? इन भावों से मुक्ति अगर चाहिए तो वही दूसरा-कुछ सोचना नहीं—जो हुआ वही देखना है—हां—यही हुआ !! क्योंकि जो हुआ सो हुआ ही, वह कभी "न-हुआ" हो नहीं सकता।······

प्र०

प्रसाद, १-६-१९६५

शुभाशीर्वाद,

······सतत जागरूक रह कर चलने की कोशिश करना—

प्र०

प्रसाद, ६-६-१९६५

शुभाशीर्वाद,

······जहां भी रहो वहां पर ही रहो,—पूरा, हमेशा पूरा। और उसका साधन है—जब जो है तब वही है।

प्र०

आश्रम, ६-१२-१९६५

शुभाशीर्वाद,

असत्य रूप से सोचना नहीं—देखना है सिर्फ! शान्ता जहां है, उसकी परिस्थिति जैसी है,—वही है, न? दूसरा कुछ तो हो नहीं सकता,—तब दूसरा कुछ क्यों सोचोगे—तुम लोग? फिर भी तुम्हारे हाथ में भी जो नहीं है—जहां तुम्हारा करना कुछ नहीं है वहां सोचना क्या? अगर कुछ करने को हो तो अपनी शक्ति भर कर डालो—बस! और कुछ नहीं—फिर जो होने का होगा—वैसा ही होगा: यही है सत्य, और इस तरह चलने से दिल-दिमाग दुरुस्त रहेगा—साफ देख सकोगे, और काम भी कर सकोगे:

देखो, सिर्फ देखो, मिथ्या सोचना नहीं है।

प्र०

आश्रम, ४-२-१९६७

शुभाशीर्वाद,

······कोशिश करते रहो, जो भोग आने का या ठहरने का होगा वैसा ही होगा और उसे अपनाना है। सूत्र वही है: जो है सो है, जो हुआ सो हुआ,—वही मेरा है—

प्र०

आश्रम, ५-४-१९६७

शुभाशीर्वाद,

……ठीक है; "जो है सो है", अभी यहां यही है—यानी इसके विपरीत "दूसरा-कुछ"—होना चाहिए—यह भाव नही। अगर "दूसरा-कुछ" का सोचना होगा तो "भाव" या Emotion आवेगा।

फिर भी—"सब मेरा ही है—करना-पड़ता है—नही, कर रहा हूं, मेरा ही है सब।"

"अहंकार" तथा ममत्व+आसक्ति कब होती है ? जब "कुछ" मेरा, बाकी-सब मेरा नही है ! "कुछ" पर ममत्व+आसक्ति, बाकी "सब" पर परायापन+विद्वेष !! यही है "अहंकार", "कुछ" को "मेरा" सोचना ! जब सब ही मेरा है—तब किसके साथ तुलना करना, मिलाना ? किसको "रखना" और किसको "छोड़ना" ? "रखना" या "छोड़ना" जब नही रहा तब रखनेवाला या छोड़ने वाला कहां ?—"अहंकार" कहा ? फिर "मेरा" चाहना कहां ? "चाहना" या "न-चाहना"—कहा ? जो हो रहा है, जो हुआ,—वह चूंकि मेरे साथ या मेरे पास हुआ तब वह मेरा-ही है,—उसे "ना" कहने की गुंजाइश कहां ? सत्य यही है कि जिस ओर *गति या Motion होती है उस ओर कुछ शक्ति काम करती है*—तब ही उस ओर "गति" !! जब जो कुछ तुम्हारे पास या तुम्हारे साथ घटता है—वह तुम्हारी ओर आकर्षण है तब ही—तुम जानो और न-जानो, तुम चाहो या न-चाहो !!—इसलिये ही "सब ही" मेरा है !!

देखो विचार कर; सोचना नहीं !!

ठीक है "बाल-विहार" में काम कर रहे हो —हां, "सब ही" मेरा है; "कुछ" मेरा है और बाकी-सब नहीं—यही है अहंकार !!

प्र०

आश्रम, २८-४-१९३७

शुभाशीर्वाद,

......"सत्य-आश्रय बिना जीवन में सुख-आनन्द-शान्ति पाने का दूसरा उपाय कुछ नहीं है—"

प्र०

प्रसाद, २३-९-१९३७

शुभाशीर्वाद,

पटने में वर्षा के ताण्डव का जो विवरण मालूम हो रहा है......

देखो, क्या न क्या हो जाता है—प्रकृति के परिवर्तन की धारा का कोई ठिकाना नहीं है, कब क्या हो जाय:—कुछ होना है—इस होने को मंजूर कर स्थिति के अनुसार काम करना है: नामंजूर, अस्वीकार करने से ही भय!!

प्र०

प्रसाद, १८-१०-१९३७

शुभाशीर्वाद,

तुम्हारे जन्मदिन का प्रणाम आया।

ठीक ही है—जो है सो है।

क्या करना है? सत्य में रहना है। सत्य क्या है? सत्य है वह जो है; जिसके साथ कभी 'न' नहीं हो सकता: तब इसका प्रयोग व्यवहार में कैसे किया जावे?

हमेशा जो कुछ होवे—उसे 'हां हुआ'—यही देखना है: अगर "ऐसा न होता"—यह चिन्ता आवे तो कहना—देखो तो है क्या: जैसा होना चाहिए कहना चाहते हो—क्या वह अभी है? सिर्फ देखना—सोचना है नहीं;—जो हुआ, जो है—उसे तो देख सकोगे न? तब? अपने को ललकारो—बोलो, 'है दूसरा

कुछ ?' नहीं, नहीं, नहीं ! ! तब ? लो उसे, स्वीकार करो उसे, मंजूर करो उसे।

सिर्फ देखने की शक्ति आवे,—सोचना नहीं ! क्यों ? जो है उसे ही देख सकते हो—उससे और दूसरा-कुछ वहां नहीं हो सकता,—सिर्फ तुम्हारा सोचना ही दूसरा-कुछ तैयार करना चाहता है :—तब ? यह सोचना ही असत्य है। वह क्या करता ? तुमको खीच लेता है—'जो है'—उससे बाहर ! !

तब ? सिर्फ देखना, सोचना नही ! सोचना ही जब दूसरा-कुछ पैदा करना चाहता है—जो है नहीं—तब ? उसके पीछे चलना कैसा, जो है नहीं ? उसी से ही दु:ख, मनस्ताप, बेचैनी सब कुछ !—क्योंकि वह 'दो' पैदा करता है,—वही 'अशिव' है।

तब ? 'शिव' वही है जहां 'दो' नही—दोनों में संघर्ष नही; जो है वही है—यही है 'शिव,' इसी में ही कल्याण है। इसलिये ही 'शिवसंकल्प' !

प्र०

एक बात और · जो कुछ पहले लिखा गया—उसे तुम 'बाहर' की घटना समझ सकते हो · —नहीं वह 'भीतर' के लिये भी। जैसे—कुछ 'भाव' दिल मे उठा तो चुकि वह उस समय उठा तो वह उस समय है . वह सत्य है उस समय। उसे 'न,'-'हां' नही कहना : उसे भी स्वीकार करना है—हां, अब यह भाव है—और उसे अपने को प्रकाश करने देना,—उसके साथ होना। देखोगे—जल्दी ही वह शेष हो जायगा,—तब ही कहो, और देखो—यह भाव क्यों आया। क्या कारण उसका रहा —जो है उस समय उससे दूसरा-कुछ सोचने से ही वह भाव आया . अब देखो,—क्या है और सोचा क्या : जो सोचा वह तो है नहीं, तब ? तब दिल मे बैठेगा—जो है सो है !

आश्रम, १२-३-१६६८

शुभाशीर्वाद,

······जीवन में सब असामंजस्य का एक ही कारण है, अपने मन के मुताबिक आशा करना ! और चूंकि दूसरा भिन्न होने के कारण वह आशा पूर्ण नहीं हो सकती--इसलिए असामंजस्य या दु:ख-बेचैनी अनिवार्य है। आशा असत्य है, मिथ्या है--इसलिए दुख देने वाली है।······

हां, जो है सो है—

प्र०

मसूरी, १६-८-१६६८

शुभाशीर्वाद,

······दिमाग लड़ाने की कोई बात नहीं है—**सिर्फ देखना** है। देखो—रात के बाद भोर, उसके बाद सुबह फिर दिन बढ़ता रहता है—सन्ध्या,—रात्रि। **सूरज कितने रूपों** से चलता रहता है—स्थिर, एक ही हालत में कुछ भी नहीं—**अपना** शरीर-मन देखो, जन्म के बाद से लेकर कितने **परिवर्तनों** के अन्दर **चल रहा** है ! कुछ भी तो एक ही रूप में नहीं रहता, तब **बदलेगा** ही—तुम्हारे मन के मुताबिक कुछ भी नहीं रहता, तुम्हारी **चाह** के मुताबिक क्या होगा ? तब "तुम्हारा" क्या है ? जन्म से लेकर इतने दिनों तक शरीर को देखो,—क्या एक ही रूप में कुछ रहा ? तो पर भी हमेशा "मेरा शरीर" ही कहते आये न—हरएक स्थिति में ? लड़कपन में भी मेरा शरीर, जवानी में भी, अब बूढ़े होते चलते भी **मेरा शरीर** कहते हो न ? जब जो होता है उसे ही "मेरा" शरीर कहते हो-- वैसा ही भीतर-बाहर जब जैसा हो वह सब ही तुम्हारा **अपना** है। सिर्फ तैयार रहना है—जब जो होवे तब **वह मेरा** ही है—

प्र०

तुम्हारा मन भी—तुम्हारे मन की चाह भी क्या एक ही रही ? !

आश्रम, ३-८-१९७०

योगेन्द्र और नैल,

······आना जाना ही नियम है : चीज व्यवहार के लिए ही है,—जब जिसके पास रहे तब उसी की पर किसी की नहीं है कोई चीज ! हाथ-बदल होता है, जितने दिनों के लिए तुम्हारा भोग रहता है उतने दिनों के लिए वह तुम्हारे पास, बाद फिर जिसका, उसके पास चली जाती है,—जैसे रु० !! जो हुआ सो हुआ,—उसे मंजूर करना, स्वीकार करना, दिल-दिमाग दुरुस्त हुआ; फिर अगर कुछ करने का हो करो,—फिर आराम !!

प्र०

आश्रम, १२-१-१९७१

शुभाशीर्वाद,

हां, "कोई पराया न रह जाय" ! पराया कोई है ही नहीं, पराया बनाया जाता है; कैसे ? जब ही "अपना" किया तब ही साथ ही साथ "पराया" आ गया। जो "अपना" नहीं वही पराया ! और इसलिए इस "पराया" से विरोध, झगड़ा, गुस्सा आदि आदि।······

तुम स्वस्थ खुश हो—अच्छी बात है; अपने में रहो, दूसरा है दूसरा ही,—सब अपने अपने में है—देखो—

प्र०

आश्रम, ६-३-१९७१

शुभाशीर्वाद,

हां, सब ही अपना है—पराया कोई नहीं है,—जैसे सब अंग शरीर के अलग अलग हैं, अलग अलग काम करते रहते हैं तो पर भी सब ही एक ही शरीर के हैं वैसे ही सब कुछ भिन्न भिन्न होने पर भी अपना ही है। सब अपने अपने काम में रहें, किसी पर दूसरे का दबाव न हो—

प्र०

आश्रम रांची, ५-१०-१९७१

शुभाशीर्वाद,

तुम्हारे जन्मदिन का प्रणाम कल पहुंचा।

दिन सब ही तो दिन ही है, तब एक दिन की महत्ता कहां? महाकाल के अविच्छेद्य धारा में एक दिन को जैसे स्थिर कर लेना हुआ,—किस लिए? जिससे जीवन अपने **एक ही क्षण** में बन्द न रहे,—यह बुद्धि, यह प्रेरणा आवे ताकि वह सर्वक्षण को अपना क्षण देख सके!! एक ससीम का मोह मिट जाए, असीम-अनन्त से एक हो जाए!

प्र०

आश्रम रांची, १२-१०-१९७१

शुभाशीर्वाद,

……"असीम अनन्त से एक हो जाय…" बहुत ही आसान है, कैसे? "ससीम" को ससीम देखो, "ससीम" को असीम बनाना न चाहो! सो कैसे? तुम तुम हो, "ससीम" न? जैसे "तुम" तुम ही हो, तब वैसे ही "वह" वह ही है,—यह देखना, "तुम" को "वह" या "वह" को "तुम" बनाना न चाहो—यानी सरल शब्दों में तुम्हारे मन के अनुसार दूसरों को **होना चाहिए**—यह न सोचो! तब? कहीं बाधा नहीं, विच्छेद नहीं, संघर्ष नहीं,—जो जैसा वह वैसा!! यह बुद्धि यह अनुभव ससीम में असीम में एक होना हुआ!—गागर में सागर!!……

प्र०

आश्रम, १३-१२-१९७१

शुभाशीर्वाद,

……"पुरुषार्थ" और "दैव" में विरुद्धता नहीं है;—एक ही है, देखने के भिन्नता के कारण भेद मालूम होता है—सिर्फ "परिपूरक" हैं!!

"बच्चा" कुछ नही करता—उसके लिए सब काम अपने आप होता रहता है :—बच्चे को कुछ करने की जरूरत नहीं रहती। पर बड़े होने से ? स्वयं करना पड़ता है, खाना भी खाना-चबाना पड़ता है,—"मैं" आता है, और यह "मैं" बढ़ता है, उत्तर-दायी बनता है, अहंकार आता है,—फिर देखता है : क्या देखता है—→सब कुछ मेरे ऊपर निर्भर नही है—मेरा जो करना मैंने किया, —फिर जो हो !! ......

प्र०

आश्रम रांची, २३-२-१९७३

"अस्वं स्वं करोति इति स्वीकरोति" = अर्थात् = पराया को अपना करना (= अपनाना) ही स्वीकार करना है।

सब स्वीकार करो।

प्र०

Seez Moulins, [FRANCE], 14-5-1973

शुभाशीर्वाद,

······तुमने "भूमा" आदि के बारे में जो सब उद्धरण दिये, सब ही वाक्-जाल है—समझ में अपने अनुभव में कैसे आवेगा वही देखना है—"भूमा" और "अल्प" के स्वरूप का जो वर्णन छान्दोग्य-उपनिषद् के सप्तम अध्याय के २३ और २४ खंड में है उन्हें गौर से देखना है—(यह सब माया देखो "गुरु के लिए २१ में)

—"यत्र नाऽन्यत्" और "यत्र अन्यत्"—इस "अन्यत् ही सब माया के खेल की कुंजी है, सब "वर्णनों" में ही "अल्प का प्रकाश—फिर वह शब्द "यत्र", इसमें सब कुछ है 'यत्र "कुत्र"? यत्र—जहां। कुत्र—"कहां" ?।

"नाम, वाणी"—आदि सब ही "अल्प है।

—"भूमा" = महत् = निरतिशय = वह सत्यज्ञानानन्दस्वरूप-

सच्चिदानन्दघन परब्रह्म-परमात्मा"—यह वर्णन "भूमा" का नहीं है—विशेषण का आरोप "अल्प" में ही होता है: यह वर्णन "भूमा" का नहीं है—यह वर्णन है "अन्यत्" का "अल्प" का—इसे देखने जानने की कोशिश कर सको तो सब साफ है—"अल्प" के अन्दर रह कर "भूमा" का बोध नहीं हो सकता; "अल्प" से छूटने से ही "भूमा"—"अन्यत्" से छूटना है—

प्र०

आश्रम रांची, ३-१०-१९७३

शुभाशीर्वाद,

"देखो" देखते देखते समय कहां ले आया—कितने विचित्र परिवर्तनों की धारा बहती आयी—तुम्हारे शरीर का ३२ वर्ष निकल गया। तब "कुछ-एक" ही रहा? तब करना क्या है? इस "धारा" के साथ बहते रहना, यानी जो-हो रहा है उसे ही लेना—कहीं "किसी-एक" भाव या स्थिति में बंधे नहीं रहना—बदलना तेरी शान है। जो-हुआ-सो-हुआ, जो-हो रहा-है सो हो रहा है—जब जैसा तब तैसा!! इसे "अपनाना" है—"स्वीकार" करना है—"न" नहीं कहना है, "दूसरा-कुछ" नहीं चाहना है, "निराकरण" न करना है—"हाँ" कहना है:

वैसे ही व्यक्ति के लिये—जो जैसा है—उसे वैसा ही देखना है, "दूसरा-कुछ" नहीं चाहना है—"स्वीकार" करना है, "मंजूर" करना है, "हाँ" कहना है, "अपनाना" है। यही है—तरीका "अपनाने" का: "अपना अच्छा लगना" कसौटी नहीं, जो है—वही "अच्छा-लगना" है—जो हुआ-वही अच्छा लगना है।

अब सिर्फ "अपनाना" है,—"पराया" सोच कर फेंकना नहीं है: अपना-"अच्छा-लगना" ही पराया बनाता है। "न" बनाता है। "हाँ"-से दूर फेंकता है।

प्र०

रांची, २७-४-१९७४

शुभाशीर्वाद,

"विवाह" के पहले लड़का-लड़की अपने अलग जीवन लेकर अकेला। विवाह सिर्फ बाहर से इन अलग (Separate) जीवनों को एक साथ लाकर एक दूसरे को अपना कर "एक" मिलन का अवसर मौका देता है ताकि वे एक दूसरे को देख, समझ, अनुभव कर वैसा होने की प्रचेष्टा कर सके—यानी विवाह बाहर से होने से ही पति-पत्नी होना नहीं हुआ वह केवल मौका दिया जिससे लड़का अपनी बाहर से देखने में पत्नी के अन्दर "पत्नी" "सहधर्मिणी" आदि की सृष्टि और विकास कर सके, वैसा ही लड़की अपने देखने में "पति' के अन्दर "पति" "सहधर्मी' को पैदा और विकसित कर सके—धीरे धीरे "एकता" की प्रतिष्ठा कर सके। कैसे, क्या है उसका रूप ?—

वह है "पति" के अन्दर "पत्नी" और पत्नी के अन्दर "पति" भर जाते हैं—तब पति हो जाता है पत्नी, और पत्नी हो जाती है पति —→तब पति—पत्नी, पत्नी =पति; दोनों एक ही हैं,—देखने में रूपों में भिन्न।

ऐसा "एक" होने की शक्ति और प्रेम बाबुल और नूतन में हो—यही शुभाशीर्वाद।

प्र०

आश्रम रांची, १८-६-१९७४

शुभाशीर्वाद,

"ॐ" की व्याख्या तथा "जो है सो है" पर और अधिक प्रकाश—आदि की बात निरर्थक meaningless है : तुमने कैसे लिया, कितनी बार कहा गया उनका फल क्या हुआ—तुम पहले कहोगे—तब फिर—

सरल हिन्दी में कहा गया—"जो-है-सो है"—वही है संस्कृत में—"यथास्थितं वस्तु"—लेकिन जो है का अर्थ "है", "रहेगा"—यह नहीं। अभी यहां यह है, अभी यहां जो है, लेकिन

वह भी रहता नहीं, बदलता है, परिवर्तन है—"**उदयास्तमयं सर्वम्**"—सब ही उदय-अस्तमय है—**आना-जाना** है—रहना नहीं है—यही है "ॐ" ! !

प्र०

आश्रम रांची, २७-६-१९७४

शुभाशीर्वाद,

जीवन और **सब कुछ चलता** है—चलना सीधा नहीं होता, **उठना गिरना** दोनों को लेकर "चलना" है, जैसे नदी का स्रोत और उसकी लहरें। जीवन में अनुकूल-प्रतिकूल दोनों ही है; इन दोनों को **समान भाव** से लेने से ही दुख का नाश होता है—एक स्थिर अचंचल आराम की स्थिति—जो आता है सो जाता है, इसे प्रिय-अप्रिय **सोचना** असत्य है,—इसलिये दुख—अशान्ति है—

प्र०

[तारीख ज्ञात नहीं]

तम् + एव + एकम्

तमेवैकम् जानथ + आतमानम् + अन्या वाचो विमुञ्चथ
अमृतस्यैष: सेतु: ।।

अमृतस्य + एष:

उस ही सिर्फ अपने आप को जानो—
और सब बातों को त्याग दो—
(क्योंकि) वह ही अमृत का सेतु है—

प्र०

काशी, १९-१०-८६
[५-२-१९३०]

शैल, शुभाशीर्वाद,

……योगेन्द्र यदि देश की सेवा करते हुए जेल भी जाए, तो इसमें अधीर होने की बात क्या है? मनुष्य जीवन में यदि देश-जनों के कल्याण के लिए अपने स्वार्थ की तिलांजलि न दिया जाए तो जीवन ही वृथा है। जानवर ही तो केवल अपना स्वार्थ देखता है। समाज के लिए, देश के लिए, धर्म के लिए अपना सब स्वार्थ छोड़ने के लिए तत्पर रहना, और प्रयोजन पड़ने पर त्याग देना मनुष्य का ही धर्म है और मनुष्य ही कर सकता है। पर हां, इसके लिए पहले से ही तैयार होना होगा और किस काम पर जा रहे हैं उसको ठीक ठीक समझ लेना भी चाहिए।

जैसे योगेन्द्र के बारे में, वैसा ही तुम अपने लिए समझो; — केवल खाते-पीते, घर-गृहस्थी करते रहना ही मनुष्य-जीवन का ध्येय नहीं है; प्रयोजन पड़ने पर इन्हे भी छोड़ने के लिए तैयार रहना उचित है।

तुम वीरमाता, वीर-पत्नी बनो, जीवन धन्य होगा—

[illegible]

आश्रम, [illegible]

शुभाशीर्वाद,

……सब कोई अपनी अपनी इच्छा के मुताबिक [illegible] भोग रहे हैं; सभी अपने अपने कर्मों का फल, इसमें तो संदेह नहीं है। बार बार देख चुकी हो कि जो कुछ हो रहा है सभी कल्याण के लिए ही होता है; तब चिन्ता किस बात की? [illegible] कल्याण के लिए हमेशा दृढ़ इच्छा को पैदा करना चाहिए—[illegible] होगा सो होगा, तब बेफिक्र होकर काम करो, तुम्हारी जय है ही। डर किस बात की, चिन्ता किस बात के लिए……

जो है सो है—इसे स्पष्ट देखो, सब अच्छा होगा।……

आनन्द से रहना, जो है सो है, जो होगा सो होगा। [illegible]

से अपने सामने जो काम आता जाय उसे करते जाओ; फिक्र किस बात की है?

प्रज्ञानपाद

आश्रम, ६-४-१९३८

शुभाशीर्वाद,

……अपने मिहनत से जो चीज मिलती है उस पर कितना जोर होता है, देखो तो! इससे अपने ऊपर भारी शक्ति दीख पड़ती है।—अपने ऊपर श्रद्धा होती है। यही तो चाहिए—तुम अपने ऊपर निर्भर कर लो तो गृहस्थी में शक्ति, सुख और शान्ति होगी।……

प्रज्ञानपाद

नामकुम, १५-८-१९४१

माई,

……सब मन का खेल है। जैसा चाहोगी वैसा पाओगी,… कोई किसी को कुछ देता है? सब तो लेना पड़ता है—जब लेने की इच्छा तीव्र होगी तब ही मिलेगा,—

आनन्द के साथ अपना काम करती रहो—मन में दृढ़ता और जोर रक्खो, सब ठीक हो जायगा—

शुभचिन्तक
प्रज्ञानपाद

नामकुम, १०-१०-१९४१

शुभाशीर्वाद,

……जब समय होगा, तब ही तो होगा, समय भी अपनी इच्छा पर निर्भर करता है? फिर इच्छा भी तो एक नहीं है?—तरह तरह की इच्छाओं में जिसका जोर अधिक होता उसके

अनुसार काम होता है। कोई चिन्ता नहीं, जब समय होगा, तब सब ठीक हो जायगा।······

जहां भी रहो, सत्य पथ पर चलो, इसी से ही कल्याण है—

प्रज्ञानपाद

बरानगर, १४-१०-१९४२

शुभाशीर्वाद,

······यही समय है जिस समय माता-पिता खासकर मां अपनी लड़की के लिये शत्रु या मित्र हो सकती। तुम तो एक दिन लड़की थी; शान्ता की अवस्था १६ वर्ष हो चली, अब उसके दिल के उमंगों का ख्याल तुमको करना पड़ेगा—नहीं तो लड़कियों के दिल में कितनी चोट पहुंचती है यह तो तुम जानती हो—इस अवस्था में दिल कितना नाजुक होता है, तरह तरह के उमंग या खाईश के सामने बाधा या धक्का लगने से क्या स्थिति मन की होती है—यह भी तुम कुछ, बल्कि काफी, अनुभव कर चुकी। अब तुम मां होकर अपनी लड़कियों को उस प्रकार के चोटों से बचाने की कोशिश करो। तुम्हारी जिम्मेवारी बड़ी टेरी है। इस समय शान्ता को डाट डपट करना ठीक नहीं,—प्रेम से, दुलार से, नरमाई से काम लेना चाहिए। यह ऐसी स्थिति है जिस समय तुम्हारे अपने हृदय के दुःखों को सह कर पचाकर शान्ता के दिल को तसल्ली देनी है।······अब वह सब समझती है—उसे प्रेम के साथ समझाने की जरूरत है—उसे तुम्हारी सखी जैसी तुमको देखनी चाहिए—किसी तरह की कड़ाई, या शर्म या हिचक तुम दोनों के बीच नहीं रहनी चाहिए। तुम्हारे पास जहां तक हो सके वह अपना दिल खोल सके और तुम प्रेम-मुहब्बत से उसकी बातें सुन सको—ऐसा होना चाहिए—तुम मां हो, सबों के लिए आश्रय, सबों के लिए दुःख दूर करने का स्थान होना पड़ेगा तुमको।······

प्रज्ञानपाद

प्रसाद, १३-५-१९४८

शुभाशीर्वाद,

······प्रज्ञान का नियम ही है—सत्य को देखना और उसे देख कर उसके मुताबिक चलने की कोशिश करना। क्या हैं ये सत्य के रूप ? वे हैं :—

(१) सब परिवर्तन है, सब कुछ बदलता रहता है : एक स्थिति में कुछ भी नहीं रहता है। सुतरां जब जैसी स्थिति आ जाए, तब उसी को मंजूर कर लेकर उसी के मुताबिक चलना।······

(२) दो कुछ भी बराबर नहीं हैं,—सब कुछ अलग ही है : दो मनुष्य भी अलग हैं—तुम्हारे अपने पेट के चार लड़कियां हैं न ? सबों की प्रकृति अलग हैं न ? तुम्हारा चेहरा जैसे दूसरों के चेहरे से अलग है, वैसे ही तुम्हारा मन, तुम्हारा दिल भी अलग है : तब तुम्हारे मन के मुताबिक दूसरे न करें तो तुम बिगड़ोगी कैसे ? भला, तुम किसी के मन के मुताबिक कर सकती हो क्या ? तब दूसरों से तुम कैसे अपने मन के मुताबिक आशा करोगी ?

देखो, सत्य को देखो, अपने को दृढ़ करो।

प्रज्ञानपाद

आश्रम, १८-४-१९५५

शुभाशीर्वाद,

······संसार चल रहा है, घटनाएं घटती जाती हैं—सिर्फ़ जो घट रहा है, वह घट रहा है—उसे मंजूर कर उस हालत में क्या करना है, अपनी शक्ति-सामर्थ देखकर वहां तक ही करने की कोशिश करनी है—फिर, बस, जितना करना था उतना किया, यही भाव हमेशा रखना।

आनन्द के साथ चलो।

प्र०

प्रसाद, १७-१०-१९६०

शुभाशीर्वाद,

तुम लोगों को तो बार बार कहा जा रहा है कि सत्य को, जो है सो है,—जो हो रहा है—उसे देखो, मंजूर करो —क्योंकि जो हुआ सो तो हुआ ही,—उससे दूसरा कुछ आशा करने से क्या मिलेगा, जो हुआ सो तो तुमको अच्छा नहीं लगता—इसलिए ही बदल जाएगा ? बदलेगा तो नहीं, तुम जैसा चाह रही हो वैसा ही होगा—जो हुआ उसे मिटाकर ? तब ? मंजूर करो, मइया, मंजूर करो ; फिर जब दो आदमी अलग ही हैं तब हर एक का भाग्य अलग है; हरएक आदमी अपने अपने भाग्य का भोग करता है, —मंजूर करो, हां, अगर कुछ करने को मन चाहे तो अपनी शक्ति-भर करो —और क्या ? यही सत्य है,—सत्य को बिना मंजूर किए जिन्दगी में सुख-शान्ति नहीं मिल सकती। दु:ख-अशान्ति-परेशानी होती है सिर्फ सत्य को न देखकर अपनी मनमानी चाहने से !

देखो, मंजूर करो, जो हुआ सो हुआ -

प्र०

आश्रम, ३१-१-१९६२

शुभाशीर्वाद,

······सब जाता है—कुछ भी स्थिर नहीं रहता—अब जैसा है अब वही है—सब बदलता है—कुछ स्थिर नहीं रहता—जब जैसा तब तैसा—यही सत्य, अभी "एक बहुत छोटा सा डेरा" —अभी वही राजमहल है ! वहां रहकर "बड़ा मकान" का खयाल कैसा, मइया ? देखो, आंख खोलकर—जब जो स्थिति, जो हालत आवे उसे मंजूर करो,—सुख-दुख तुम ही बनाती हो न ?

भूडोल हो सकता है,—जो होगा सो होगा - जो होगा, जो हो रहा है—उसे मंजूर करो, - होना है हो कुछ न कुछ—तब ? स्थिर नहीं हैं कुछ भी—

प्र०

प्रसाद, २१-८-१९६४

शुभाशीर्वाद,

यही तो चाहिए, मइया, यही चाहिए।

'काम' के बारे में हमेशा यही देखना है कि मुझे क्या करना है। हालत या परिस्थिति बदलती रहती है, बदलेगी ही, कुछ घटना घटेगी ही—परिवर्तन जो है, एक ही हालत में कुछ रह नहीं सकता, जिसका ज्वलंत मिसाल है सूर्य;—चलता है, रूप बदलता है, यही नियम है—इससे दूसरा कुछ भी नहीं हो सकता,—तब करना क्या है? जब जो स्थिति या हालत आवे तब चूंकि वह आयी, उसे मंजूर करना है, दूसरा कुछ नहीं सोचना है—परेशानी की कोई बात ही नहीं,—"अब यह है!!"......

देखना है,—है क्या स्थिति या हालत; उसमें करना क्या है—जो है सो है, फिर उसमें करना क्या है—यही देखना है, सोचना कुछ नहीं!!

बहुत ठीक है,—मइया; वही आशा—यह आशा है तब सब दुखों की जड़। तब 'आशा' क्यों होगी? पर हां, 'आशा' हो ही नहीं सकती—इसे देखना-जानना है—कैसे? 'आशा' करती हो तुम—ऐसा होवे, दूसरा वैसा करे!!—यही न? पर ऐसा होता नहीं, दूसरा वैसा करता नहीं—इसलिए दुख-परेशानी, रोना, झगड़ना!—यही तो? तब? देखना है—क्यों ऐसा हुआ, क्यों दूसरे ने वैसा नहीं किया,—जैसा तुम चाहती!! पर हुआ कुछ, दूसरे ने किया कुछ,—क्यों हुआ, क्यों किया? चाहना, आशा करना तुम्हारे अन्दर—और होना, दूसरे का करना है बाहर! तब? तुम्हारे अन्दर और बाहर—दो अलग चीजें हैं न? बाहर जैसा है, बाहर जैसे 'कारण' जुट गये वैसा ही हुआ,—बाहर दूसरे के मन में जैसा हुआ वैसा ही उसने किया—वैसा ही होगा, वैसा ही करेगा—दूसरा कुछ हो नहीं सकता: तुम्हारे अन्दर के मुताबिक, तुम्हारी आशा के मुताबिक!! तब? 'आशा' बेकार है न? 'आशा' के अनुसार हो भी सकता, नहीं भी: वह तो निर्भर करता है 'बाहर' पर!! तुम्हारे ऊपर नहीं!! तब? आशा कैसे? जो हुआ, जो हो रहा है—उसे ही लेना है,—आशा करना नहीं!!

और एकाग्र ! हां, देखो, जब जो स्थिति, जब जो काम है तब वही तो है, और तो कुछ नहीं है, खाना बना रही हो, बैठी हो,—तो उस समय यही है न ? तब यही होगा, मन यहीं पर रहना ही सत्य है—यही है 'एकाग्र' ! ! अवश्य ही—"मन सदा एकाग्र रहे, किसी चीज की आशा न करूं"! महामंत्र है ! —हां, "अपने पर विश्वास" करो सदा—ठीक है, क्यों ? तुम्हारे जीवन में जो कुछ होता है—सुख या दुख—सो सब तुम्हारे ऊपर ही निर्भर है,—दूसरे पर नहीं, तुम जैसा लेती हो ! ! सूर्य तो है पर तुम अगर आंख बंद करो तो ? क्या सूर्य है तुम्हारे लिये ? सब कुछ ही तुम्हारे लेने पर है—इसलिए तुम्हारे ऊपर है ! ! कोई अगर हिन्दी में तुम्हें गाली दे तो तुम समझती हो, लेती हो,—इसलिए दुख : वही बात अगर दूसरी भाषा में बोले तो ? तुमको कुछ लगता नहीं : क्योंकि तुम नहीं लेती ! ! तब ? सब कुछ ही तुम्हारे लेने पर है, तुम्हारे पर है—इसलिए अपने पर विश्वास करो, एकाग्र हो, आशा नहीं ! !

प्र०

आश्रम, २६-१२-१९६४

शुभाशीर्वाद,

"...जब जो हालत आवे तब उसे मंजूर करो, क्योंकि वह आयी है न ? जब आयी है तब "न" कहना तो मूर्खता है : सूरज सामने है सुबह में और अगर तुम कहो कि अभी रात है तो ? रात कहने से ही सूरज का प्रकाश क्या गायब हो जाएगा ? जो है सो है ही,—उसे मंजूर करना है, उससे दूसरा कुछ न आशा करना।

प्र०

प्रसाद, १-६-१९६५

शुभाशीर्वाद,

······हमेशा याद रखना—सब तुम्हारा ही है,—तुम जैसा चाहती हो वैसा ही होता है,—तब ? जो कुछ भी होता है वह सब तुम्हारा ही है—नहीं तो तुम्हारे पास क्यों आया ! ! ······

प्र०

प्रसाद, २६-८-१९६५

शुभाशीर्वाद,

आश्रम से जो भाव लेकर गयी, उसे हमेशा याद रखने की कोशिश कर चलो—सब ठीक चलता चलेगा।

जिस समय जो हाल आवे उस समय उसे ही मंजूर करना है न ?······

सब बदल रहा है न ? तब ? जिस समय जो उस समय वही ! !

अपने को, अपने हाल को, मंजूर करो, कबूल करो, स्वीकार करो—हां, अभी यही है—यह कहो। दिल-दिमाग ठण्डा रहेगा—

प्र०

वु-ला-रेइन, फ्रान्स, २५-७-१९६६

शुभाशीर्वाद,

देखो, मइया, अगर आपरेशन जरूरी हो तो अवश्य ही करवा लेना चाहिए।

सब कुछ अपने मन का खेल है, मइया। क्यों घबड़ाओगी ? अपने को, जो कुछ हो रहा है उन्हें मनजूर करो—हां, "अपने को मनजूर करती हूं या क्या हो रहा है यह समझने की शक्ति स्वामी जी ने दिये हैं इसलिये कुछ रहे अपने में सन्तुष्ट हूं"—सुन्दर लिखा तुमने। निडर, निर्भय रहो—मनजूर करो—खुश रहो।

प्र०

५-४-१९६७

शुभाशीर्वाद,

आशीर्वाद-पत्र नही मिला तुमको इसलिये कि तुमने लिखा नही। वरना हमेशा तो आशीर्वाद है, मां !

हमेशा याद रखो, मइया, सब तुम्हारा ही खेल है, इसलिये जब जो कुछ होवे तब उसे मंजूर करो, स्वीकार करो, अपना लो, कहो, "हां, यह मेरा ही है"। दिल-दिमाग तुम्हारा शान्त और देखने वाला रहेगा, "कुछ भी परेशानी नही होगी।"

देखो, मां, देखो

प्र०

आश्रम, १५-२-३६

शुभाशीर्वाद,

उस दिन भावों से principle की उत्पत्ति और सजगता के संबंध में जो बात तुम कह रहा था, उसी के सिलसिले में बड़ी अच्छी तरह लिखा हुआ परसों मिला—

Rationalisation points to the fact that people very often decide an issue first, whether on politics, religion or some other subject, on emotional grounds, and then seek for reasons. Discussion between two peoples often resolves itself into a conflict bet. two sets of rationalisations adopted for emotional and individual ends. The fact that anyone insists on his open-mindedness, or broad-mindedness or some high principle is an indication that he feels a need to justify a particularly strongly emotionalised set of convictions. With this in mind, much fruitless discussion can be avoided, particularly with religious and political cranks, whose point of view, having derived from emotional sources, is not likely to be vanquished by logical arguments. The strong need that some people feel for the convictions they hold leads them to tolerate all kinds of excesses against those who oppose them. The kindest and most sympathetic nature may be transformed into a blood-thirsty fiendish type if its mental stability is threatened by the assertion of views which, for emotional reasons, it cannot tolerate.

खूब ध्यान के साथ याद रखना—सजगता की सख्त जरूरत है। मन हमेशा धोखे में डलने में तैयार रहता है। कितने व्यक्ति तो कला की आड़ में अपनी व्यभिचारवृत्ति को छिपाते हैं।······

सजग रहो, इसी में कल्याण है। सत्य बड़ा कठोर है !

प्रज्ञानपाद

आश्रम, ६-२-३९

शुभाशीर्वाद,

तुमको कुछ रु० m. o. करने जा रहा था उसी समय परसों तुम्हारा पत्र आया; पत्र देखकर ही व्यवस्था करना ठीक है, इसलिये उसे रोक लिया।

तुम्हारे योग्य बातें हैं। देना-लेना तब मधुर और प्रसन्न करने वाला होता है जब 'देना' और 'लेना' न रहे—देनेवाले के मन में 'मुझे देना है, मैं देता हूं' और लेने वाले के मन में 'मैं लेता हू' ये भाव न रहे,—मानों अपने ही दाहिने हाथ से देना और बायें हाथ से लेना है; इतना सहज और आत्मभावपूर्ण है—'मैं मैं तू तू' नहीं। कर्तव्य-बोध, युक्ति के ऊपर जिस कार्य, धर्म, नीति, morality का निर्भर है—वह मिथ्या है, दु ख देनेवाला है, जीवन को पंगु बनानेवाला है। श्वास लेने में, भूख को दूर करने में तो कर्तव्य और युक्ति की जरूरत नही पड़ती। करना है—बस। सहज भाव, जीवन का एक अंगमात्र है। जिसे न करके रहा न जाय—हृदय जिस को करने से आराम पावे, न करने से सहज बेचैनी—वही काम है नीतिपूर्ण, धर्मसंगत, क्योंकि वह जीवन में आनन्द देनेवाला है। तुम जीवन में इस सहजभाव को, आनन्द को, लेते हुए काम करो—यही आदेश है।

आर्थिक मामले में जिस दीनता का जिक्र किया गया—वह अर्थ के परिमाण पर निर्भर नही करती बल्कि अर्थ के सम्बन्ध में हृदय के भाव को प्रकाश करती। जिस दीनता के कारण कोटिपति भी दीन हो सकता है और एक कौड़ीवाला भी उदार होने की मूर्त्ति होता है।

जब जैसा तब तैसा। यदि फिर से शरीर थोड़े में चल सके तो अच्छा ही है। फल-तरकारी तो शहरों की चीजें हैं। जब परिस्थिति ने उस उजाड़ गांव में लाई है तब जहां तक हो सके इसके अनुसार ही चलना ठीक है न ? गो-शाला का काम इस समय कुछ आसानी से बन गया—सुतरां रु० बच गया। मां के पास भेजना जब है तब तुम जितना हो सके वहां से भेज दो, यहां से ३०-४०) तक वहां (वहां का पता लिखो) भेज दिया जा सकता, क्योंकि तुम्हारे पास भेजने में दुबारा खर्च होगा न ? पक्का का मामला फिलहाल तो रोक ही दिया। आगे चल कर नितान्त जरूरी हो तो देखा जायगा। तुम को जरूर लिखेंगे। तुम तैयार रहना।

अवश्य इस उजाड़ गांव के अनुकूल परिस्थिति में शरीर यदि चल जाय तो ठीक ही है, नहीं तो अवश्य ही कहेंगे। यहां की व्यावहारिक परिस्थिति ऐसी है कि आश्रम के रक्षणावेक्षण में ही कुछ खर्च हो जाता है। फिर निर्मल रहना चाहता है; यदि रह गया तो एक खर्च है—जरूर यह सब देखना चाहिए। तुम फिक्र न करो। **अनायास सहज भाव से रहो। जीवन में भाव—सहज, अनायास, शुद्ध भाव—ही अवलम्बन है,—कोरी बुद्धि व्यभिचारिणी है, धोखे में डालती है।**

प्रज्ञानपाद

·

आश्रम, २९-४-३९

शुभाशीर्वाद,

तुम्हारा पत्र और फोटो*।

यह पत्र बहुत अंश में 'तुम्हारा' था, न कि तुम्हारे बौद्धिक भूत का—जैसा प्रायः हुआ करता है। जब तक न कभी कभी व्यक्ति अपने को छोड़ दे, तब तक संस्कारों से बद्ध निरुद्ध भावों का निःसरण नहीं होता, जीवन संकुचित रह जाता, एक स्वच्छ सहज

---

* देहरादून की एक लड़की का, जिसके संबंध में मेरे विवाह का प्रस्ताव आया हुआ था।

जीवन के सम्प्रसाद की ठंडी हवा का अनुभव नहीं होता; पर हां, इस शीतलता का अनुभव तब ही सत्य होता है जब उसके पहले निरुद्ध भावों के द्वन्द्वों की तुमुल उष्णता को पार कर चुका हो।

If you want peace, just prepare for war! Compromise, weak-kneed and base is the creed of the coward.—Only the valiant can court struggle and revolution. There is only individual degrees!

इस पत्र से कुछ बातें स्पष्ट हुईं। एक बार प्रत्यक्ष बातें हों तो ठीक है—पर अब तुम चाहो तो व——को देखने, और हो सके तो उससे कुछ बातें करने के बाद भी यहां आ सकते हो। फोटो से जहां तक मालूम होता है वहां तक वह तुम्हारे लिये अननुकूल नहीं होगी,—पर bubbling enthusiasm का अभाव उसमें है। अधिक बौद्धिक, कम भावप्रवण है। उसके माता-पिता का उम्र तो मालूम नहीं है न? Yes, she is not a temptress, she is more sisterly. फिर आगे। यदि तुम जाना पसन्द करो, और अच्छा भी है, तब जहां तक हो सके, 'पहली छाप' (First impression) और भाव की प्रतिक्रिया (emotional reaction) को खयाल कर देखना।

अपने को सहज भाव से ग्रहण करो, जैसा तुम्हारे पत्र के अंग्रेजी हिस्से में कहते हो। 'चेहरा' हमेशा दु:खदायक है, क्योंकि वह मिथ्या है, अपने से अलग है। जब तक न बाहर में किसी का अकल्याण हो तब तक खुद खुद होना—अपने में, अपने स्वभाव में, अपने स्वभाव की महिमा में 'स्वे महिम्नि' रहना। तब ही अपनी सृष्टिशक्ति (Creative Energy) का बोध होता है, और इसका नाम ही है आनन्द! आनन्द ही जीवन का सार है, आनन्दहीन जीवन मनुष्य-जीवन नहीं है,—वह है पशु का, बल्कि अचेतन चीजों का—ईंटा-पत्थर का। वह जड़ है, गतिशील नहीं—स्वच्छ सावलील गति ही मनुष्य जीवन का द्योतक है—क्योंकि उसमें जीवन का आनन्द है।

प्रज्ञानपाद

आश्रम, १४-७-३६

शुभाशीर्वाद,

......यदि देहरादून का मामला खतम हो गया—यह मान या जान लेने पर ही विज्ञापन† के जवाबों पर विचार करना चाहिए। उत्तर तुम स्वयं ही दोगे—यह ठीक है।

पटना आने के संबंध में दो बातें देखनी हैं— (१) हम दोनों की आवश्यकता, (२) आर्थिक प्रश्न। पहले के संबंध में तुम्हारी आवश्यकता तो है,—पर अब ही या कुछ दिन बाद भी होने से चलेगा इसे देखने पर बहुत जल्दी करने की आवश्यकता नहीं है,—कुछ देर से भी चल सकता। अपने लिये तो स्थानों की परीक्षा करनी है। पहले से तो स्वास्थ्य अच्छा ही है,—इस बार वर्षा इधर ही बिताने से क्या फल हो देखना अच्छा है—ऐसा भान हो रहा है। दूसरी बात—अर्थ। अब तक तुमने जिस तरह खर्च किया—वैसा करने से चलेगा नहीं—विवाह करना है, उत्तरदायित्व लेना है—जगत् तो अर्थ पर है। अभी से अपना अनिवार्य खर्च को छोड़ कुछ रु० बचाने की चेष्टा करनी है। अपना एक साधारण हिसाब (खर्च का) कर लो—उसके अतिरिक्त रु० पहले ही बैंक में जमा कर दो—दूसरा काम ले लिया—ठीक है। विवाह के पहले तुम्हारे हाथ में कुछ जमा रहना चाहिए। इस समय अलग मकान और दूसरी ओर खर्च कर डालने से हाथ खाली हो जायगा—यह ठीक नहीं है।—इन बातों पर विचार कर इस बार पटना ना आना ठीक मालूम होता है।......

प्रज्ञानपाद

† मैंने अपने विवाह का विज्ञापन कुछ पत्रों में प्रकाशित कराया था।

वराहनगर, २१-८-३६

शुभाशीर्वाद,

······प्रान्तःप्रान्तिक विवाह तो संस्कृति—culture—की दृष्टि से ग्राह्य है—पर इसके लिए सब से प्रधान आवश्यकता है—हर प्रकार की क्षुद्र संकीर्णता के अभाव की। दोनों पक्षों में यदि इतनी उदारता हो कि एक दूसरे की विशेषताओं का आदर करे तो संबंध मधुर होता है - अन्यथा हर बात में भिन्नताओं की मूर्ति सामने आती रहती है - जीवन कटु हो जाता है। खास कर बंगाली और अबंगाली में रुचि-आहार-विहार आदि में बड़ा ही अन्तर है। स्वामी जी के आहार-विहार आदि देखकर बंगाली का नमूना नहीं समझना चाहिए—क्योंकि कारण प्रत्यक्ष है। किन्तु यदि इन बातों में कुछ साम्य हो - और उदार-सहिष्णुता—जो कि प्रेम का निदर्शन है--से काम चले तो ऐसा संबंध बड़ा ही अच्छा हो सकता है -जीवन में विकास और एकात्मता का उद्भव होता है—जीवन आनन्दमय होता है।

वस्तुगत भाव से लड़की अनुकूल प्रतीत होती है। वे लोग ग्राह्य होने पर भी धनी नहीं हैं,—इसके पिता एक सत्पुरुष की हैसियत से परिचितों में प्रिय थे साधारण भद्र परिवार है--सुतरां खर्चीली होने की सम्भावना लड़की के लिये कम है। इतना कहा जा सकता। यदि आवश्यकता हो अवश्य ही आ सकते हो। क्यों तुम्हारा मन इस प्रकार उद्विग्न हो गया ? सजग होकर देखना चाहिए।

प्रज्ञानपाद

आश्रम, २४-१०-३६

शुभाशीर्वाद,

······तुम्हारी संज्ञा को हमेशा ध्यान में रखना—

Abnormal	Normal	Supernormal
↓	↓	↓
Subjective	Subjecto-objective	*Objective*

तुम्हारी यह संज्ञा अर्थपूर्ण है—हमेशा Normal स्थिति को कायम रखने की कोशिश होनी चाहिए। खास कर यह बात आज इसलिये—१००) से अधिक कर्ज न हो जहां तक हो इसका खयाल रखना चाहिए। अपनी Subjecto-objective स्थिति हमेशा सामने रहे, हर हालत में।

प्रज्ञानपाद

वराहनगर, २२-११-३६

शुभाशीर्वाद,

……नवीन स्पर्श-अनुभव को अपनाने में समय चाहिए—स्पर्श का पुलक सारे शरीर-मन में स्पन्दन पैदा कर देता है,—वह स्पन्दन और उसका तड़ितनुभूति पहले विह्वल कर देने का काम कर लेती है, धीरे-धीरे वही जब सात्म्य बर्दास्त हो जाता है तब उसकी मधुरता का बोध होता है—उसके पहले अनुभव की नवीनता और तीव्रता सजग रहने देती नहीं—बोध गायब हो जाता है। स्पर्शानुभव की तीव्रता कुछ अभ्यस्त होने पर अनुभवशक्ति की मात्रा भी बढ़ जाती है—पहले जितना जल्द उच्छ्रिति और वीर्यक्षोभ पैदा होते हैं—बाद को उतना जल्द नहीं,—बल्कि सहनशक्ति की वृद्धि के कारण देर लगती है। आनन्द तो शक्ति को बर्दास्त करने में है।

प्रकृति (मिनति) चंचल होवे, खेल करती रहे पर पुरुष (तुम) उस खेल का मौज ले—उत्तेजित होना प्रकृति का धर्म है, पुरुष को चाहिए—उस उत्तेजना को अवसर देना है,—प्रकृति लेती है, लेने के लिये चंचल होती है—पुरुष उस चंचलता को 'देकर' शान्त करता है। सम्भोग के घर्षण से vagina की elasticity बढ़ती है,—सारे शरीर मन में एक पुलक-स्पन्दन दौड़ जाने के कारण सारा जीवन आनन्दमय, रसपूर्ण, सुतरां आप्यायित होता है,—जीवन में भरापन (परिपूर्णभाव) का अनुभव होता है—इसका नाम है 'प्रेम'—'पूर्णता! एक दूसरे में पूर्णता देखे,—हृदय में एक 'भरा-भरा'-भाव का अनुभव हो—'मैं भर गया-

गयी हूं' · ऐसा बोध हो—यही है प्रेम का रूप ! 'प्रेम' का रस पान करने के लिये कुछ तपस्या चाहिए—मासिक के (शुरू से) १८ दिनों तक वीर्य-संचय करने पर शरीर-मन में जो शक्ति संचार होगा—मानो किसी उत्सव के लिये तैयारी हो रही है—उसी का प्रकाश दो-तीन दिनों में होगा—आनन्द का बोध होगा ! बार-बार सम्भोग में केवल एक अभ्यासजात कर्म होता है—उससे ग्लानि होती है—शरीर मन में अवसाद का बोध होता है ! इतना संयम उचित है। याद रखना चाहिए कि किसी महोत्सव के लिये तैयारी करनी है ! ……

"Physical contact जितना अधिक और कालव्यापी होता जा रहा है उतना ही भय कम होता जा रहा है"—और उतना ही उत्तेजना-सहन-शक्ति बढ़ती जा रही है।—दोनों आपस में भर जावे—यही प्रेम है। इस भरापन में शारीरिक संभोग गौण-स्थान रखता है।

तुम्हारे पत्र के बाद मां को तो पिघल जाना ही चाहिए। अन्ध 'भाव' सब गड़बड़ा देता है—सत्य को देखने नहीं देता। सत्य को देखो—स्वीकार करो।……

हां, अब तो तुम्हारे पास रहने में बाधा नहीं। पर हां, एक बाधा तो है--अब मिनति तो घर की मालकीन ठहरी,—से एखन गृहेर रानी, रानीर हुकुम तो हवा चाइ—उसका हुक्म तो चाहिए न ?

आनन्द से रहो—भय किसी बात का नहीं है।

प्रज्ञानपाद

आश्रम, १४-८-४०

शुभाशीर्वाद,

……मद्रास के S. Ganesan ने एक सन्देश मागा था—उनको यह लिखा गया—

The only sure way to strength, prosperity and peace is to have a purely objective viewpoint

in life in all its spheres. The more a man becomes subjective, the farther away he moves from Reality and Truth. Truth is a very hard task-master. It can never brook subjective conception and imagination. One should always try to build on the hard solid ground of objective facts which never betrays—and non-violence is the operative aspect of Truth—Truth in action is non-violence. The highest and blackest violence is subjective insistence.

प्र०

आश्रम, १५-२-१९४०

शुभाशीर्वाद,

अयथा मन को कोसना नहीं। अतीत के लिये दुःख या आतुरता नामर्दों का लक्षण है—अतीत में जो गलती हो गई हो उसका कारण ठीक ठीक देखकर उसे याद रखते हुए चलना ताकि फिर वैसा न होने पावे—यही है वीर का लक्षण।

अति-चिन्ता भी escape है—जैसा भाव-विलास भी escape. "पथ चलवे जेने"।

प्रज्ञानपाद

फरवरी, १९४०

······पहले अपने को स्वीकार करो,—अपने को स्वीकार न करने पर, बल्कि दूसरी कोई गलत कल्पित मूर्ति को अपना सत्य रूप मानने से जब उसके साथ अपनी सत्य स्थिति का विरोध होता है तब ही आता है inferiority का भाव : positively—"मैं ऐसा नहीं हूं, मैं बड़ा हूं," या negatively—"मैं कुछ नहीं हूं"—फिर भय !

... ...

"पाखिक पाख, मीनक पानी,
जीवक जीवन, हम तुहुं जानी।

—सहज आकर्षण, शुद्ध प्रेम-श्रद्धा-आदि का लक्षण!
—कृष्ण के प्रति विद्यापति की राधा का हृदय-भाव!

... ...

क्या श्वास लेते हो, इसमें बहादुरी है? इसका एकमात्र उत्तर यही है कि "लेना है"—"क्यों" की गुंजाइश ही नहीं बल्कि 'न लेने' से बचना ही मुश्किल हो जाता है।······

९०

मधुपुर, २३-२ [illegible]

शुभाशीर्वाद,

······बात ही सब कुछ है, बाहर के सब व्यवहार के लिये बात ही एकमात्र अवलम्बन है; सुतरां इस "बात" पर जिसके संयम नहीं रहेगा—उसका सारा व्यवहार ही गलत हो सकता है और साथ ही साथ जीवन भी वैमनस्य, दुःख, अशान्ति से [illegible] होगा—बंगला में कहावत है—

"कथार नाम महाशय [महा—आशय ([illegible]
कथा कइते जानले हय,
कथा शतघारे वय।"

"कथा"—पर संयम व्यवहार के लिये प्रथम और प्रधान आवश्यक है। सजगता की आराधना करो—खुद अपना प्रभु हो जाओ,—तुम कर्म करो, न कि तुमसे काम हो। तुम प्रभु हो भावों का गुलाम नहीं। वस्तु-स्थिति को, तत्व को देख कर ही व्यवहार करते रहो।

मिनति को तो तुम्हारे माता-पिता पसन्द करते हो। [illegible] कभी ऐसा काम या व्यवहार कर सकती जिससे दूसरों को [illegible] लगे?—

"नयन दुटि मेलिब जबे परान हबे खुशी,
जे पथ दिया चलिया जाव सबारे जाव तुषि"

—यही तो सहज जीवन का लक्षण है।······

प्रज्ञानपाद

आश्रम, १४-१-४१

शुभाशीर्वाद,

······Subjective-Objective के सम्बन्ध की परिणति को समझने में आधा हिस्सा ठीक है—पूर्ण रूप से कहा जाय तो क्रम यह है—

१. Subjectively subjective
२. Objectively subjective
३. Subjectively objective
४. Objectively objective

१—Subject अपने मनोराज्य में ही रहता है, बाहर के object को अपने मन के भावों के रूप में ही देखता है—वस्तुज्ञान बिलकुल नहीं है—पागल। क्या कर रहा है, क्यों कर रहा है,—कुछ भी ज्ञान नहीं, अपने भीतर के भावों के हाथ कठपुतली। अपनी स्थिति का ज्ञान नहीं।

२—यहां पर Subject ऐसी स्थिति में आ गया, जब कि वह subjective भावों को, भीतर के भावों को आते हुए देखता है और उसे अभिव्यक्ति (expression) देता है, रोकता नहीं, निग्रह नहीं करता, पर क्या कर रहा है उसे मालूम है—इतना ज्ञान आ गया। निग्रह,—आदर्शवाद से, भय से,—होता है १ और २ के बीच में। अपनी स्थिति का (सिर्फ subjective) ज्ञान है।

१ और २ में Subject प्रधान है, Subject अपने में ही अधिक व्यस्त है। दृष्टि Subject में है।

३—यहां पर Subject में काफी संयम आ गया, पर अभी तक subjectivity से मुक्त नहीं, objective संसार में काम करता है, पर subjective दृष्टि से; अपना लाभ, अपना हिसाब जोड़ता

है। object के साथ कहां तक रहेगा, क्यों रहेगा,—देखता है। ग्रौर object के साथ ग्रपने को मिलाने की कोशिश करता है। Subject ग्रौर object के बीच सामंजस्य होने लगता है,—दोनों के ही interest के मुताबिक काम होता है, ग्रधिक cbject का।

४—यहां पर Subject subjectivity से मुक्त है, ग्रपना कुछ नहीं रह गया, सिर्फ object के लिये ही, object के साथ है। *object के रूप में object को देखता है।*

ये definite landmarks हैं; बीच में, ग्रौर हर एक के भीतर stages हैं; It is a dynamic process and not static states. ग्रब फिर से विचार करो।

अधिकांश लोग कहां हैं—१ ग्रौर २ के बीच में? ३ ग्रौर ४ में object प्रधान हैं, Subject object में ही ग्रधिक व्यस्त है। दृष्टि object में है।······

प्रज्ञानपाद

ग्राश्रम, ५-२-४१

शुभाशीर्वाद,

निग्रह हटाना तो है पर सयम तो जीवन की सारी शक्ति की कुंजी है। जानकर, खुशी के साथ किसी कष्ट का सहन करना है संयम। इस तरह कष्ट सहन करने में जितनी शक्ति का खर्च होता है उतनी मात्रा में शक्ति ग्रपने ग्रन्दर संचित होती है, चारित्र्यबल इसी का नाम है। सजगता जारी रहे—यही है प्रधान ग्रस्त्र। सब कुछ "जानकर"।

ठीक है, बीच बीच में साक्षात होना तो जरूरी है ही,—ग्रन्दर साफ होता है—पूरे subjective होने की यही जगह है।

प्रज्ञानपाद

'Anandakuti' Suriya, 12.7.43

शुभाशीर्वाद,

तुम्हारा ७-७-४३ का पत्र कल पहुंचा।

शोभन† का हाल बीच बीच में लिखते रहना।

जो परिस्थिति अनिवार्य है उसके लिये, उसके उपस्थित होने से मन को चंचल होना नहीं चाहिए। अब धीरे धीरे, तुम्हारे संसार के सम्बन्ध जालों का विस्तार हो रहा है, सुतरां सजग रहकर वस्तुस्थिति रूप सत्य या तत्व का विचार हमेशा जारी रखना चाहिए। मानसिक वस्तुस्थिति का अनुशीलन पहले किया, अब पूरी वस्तुस्थिति का अनुभव करना है। शोभन की बीमारी का हाल सुनकर 'एक जबर्दस्त shock' मिला। क्यों? मन तुम्हारा मानता रहा था कि तुम्हारा सब कुछ तुम्हारे अनुकूल ही चलेगा। सब हमेशा स्वस्थ रहेंगे, सब कोई खुश रहेंगे, दुःख किसी तरह का नहीं आवेगा—अर्थात् जीवन हमेशा एक ही रीति से चलेगा,—तुम्हारे अनुकूल। लेकिन अनुकूलता-प्रतिकूलता, सुख-दुःख, स्वास्थ्य-रोग, सम्पद-विपद, जन्म-मृत्यु, उत्थान-पतन—इन दोनों भावों के आधार पर ही जीवन की स्थिति है, जीवन चालू है। 'एक' कुछ भी सत्य नहीं 'है', दो' ही सत्य है,—'दो' के अविरल चलन-परिवर्तन में ही जीवन की धारा, 'एक' होने से मृत्यु है। '+' और '—', positive & negative दोनों अविच्छेद्य रूप से बांधे हुए हैं,—positive को छोड़ कर negative नहीं, negative को छोड़ कर positive नहीं : दोनों के मिश्रण में ही जीवन, दोनों में से एक के रहने से मृत्यु। हमेशा मन को इन दोनों के लिये तैयार रखने में ही जीवन में शक्ति, आनन्द, शान्ति है, नहीं तो कमजोरी, निरानन्द, अशान्ति हैं।

यदि राजभोग भी हमेशा खाते रहो, किन्तु मलमूत्र निकलने का पथ बन्द करो,—केवल लेना, छोड़ना नहीं—फेंकना नहीं,—सिर्फ positive, negative नहीं, तो फल क्या होता है? अस्वस्ति, रोग, मृत्यु। यदि दोनों को,—लेना और

† हमारा डेढ़ साल का बच्चा जो सख्त बीमार था।

छोड़ना—सम्यक रूप से रखा जाय तो जीवन में स्वस्ति, स्वास्थ्य और जीवन है न ? ठीक उसी तरह मन के दोनों पथों—एक अनुकूलता, दूसरा प्रतिकूलता—को खुला रखना है।

घर बना कर सिर्फ भीतर आने के पथ और दरवाजे ही तो सिर्फ नहीं बनाए जाते,—पैखाना, ड्रेन आदि नहीं बनाते क्या ? भीतर घुसने का और बाहर जाने के उपाय चाहिएं, क्यों ? नहीं तो घर गन्दगी से भर जाता,—रोग, मृत्यु तक आ जाती। ठीक उसी तरह मन के लिये भी।

किसी कोठरी में सिर्फ हवा के लिये अन्दर आने का पथ रहे और निकलने का नहीं, तो क्या होगा ? ventilation न होने पर जी ऊब जाता है,—रोग, मृत्यु हैं न ? लेकिन जब आमने-सामने दरवाजे और जानले रहें तो हवा आती है निकल जाती भी,—घर की हवा, घर का स्वास्थ्य स्वच्छ रहते हैं, जीवन में रस आता है। ठीक उसी तरह मन के दोनों दरवाजों को,—एक सुख-सुविधा, सम्पद-निरोगिता-आदि positive चीजों के लिये, और दूसरा दुःख-असुविधा-विपद,—रोग-मृत्यु आदि negative चीजों के लिये—खुले रखने से,—अर्थात् हमेशा मन को इन दोनों बातों के लिये तैयार रखने से ही जीवन में शक्ति, आनन्द, शान्ति कायम रहती हैं। तुम्हारा मन positive, positive को ही एकान्त सत्य मान रखा था, negative के लिये तुम्हारा मन तैयार नहीं था, इसलिये ही इतना 'जबर्दस्त shock' लगा। असत्य में रहने का यही फल है।

फिर 'incurable,' 'fatal' कोई कह सकता है ! Incurable, fatal मानकर अशान्ति भोग रहे हो—यदि incurable, fatal—न हो तो फिर ? सभावना तो दोनों ही हैं न ? एक को क्यों पकड़ते हो ? जो-है-सो-है—किसी भी बात को मानों नहीं, वर्तमान में स्थिति जैसी है उसी का उपचार करने के लिये कोशिश करते रहो,—इतना ही तुम्हारे हाथ में है ! फिर आगे जैसी स्थिति आती आयगी उसी के मुताबिक तत्काल काम करना। यही सत्य है। इस सत्य का अवलम्बन करो, मन स्थिर, अचंचल रहेगा, उपस्थित कर्त्तव्य करने के लिये भी शक्ति मिलेगी।

नहीं तो चंचल होने से कर्त्तव्य करने की बुद्धि और भाव नहीं रहेंगे। फल खराब होगा। मन के दोनों दरवाजों को, positive & negative खुले रखो, जीवन अखंड रस से भरा रहेगा—आने-जाने वाली परिस्थितियों से मन विवश नहीं होगा। मन आनन्द से ओतप्रोत रहेगा। आंखें खोल कर रहो।

एक और बात याद रखना, तुम्हारा मन यदि चंचल हो जाय तो मिनति का क्या होगा? तुम मर्द हो,—ज्ञान के आलोक से तुम्हारा हृदय आलोकित रहे,—तुम स्थिर रह कर मां के हृदय को सान्त्वना दो······

सत्य को देखो, सत्य को स्वीकार करो,—कोई डर नहीं रहेगा—

प्रज्ञानपाद

Anandakuti, १०-८-४३

शुभाशीर्वाद,

······ठीक है, मद्रासवाली दवा की परीक्षा होनी चाहिए। जिस में भी लाभ की आशा हो वैसा करना चाहिए—सिर्फ इतना खयाल रहे कि मोह में आकर अच्छा-बुरा, सच-झूठ का भेद लुप्त न हो सके।

जीवन के दोनों मुखों के ज्ञान और अनुभव के बारे में तुम्हारा कहना ठीक ही है—बिना अनुभव के बोध दृढ़ नहीं होता —आदमी 'पढ़ कर' नहीं सीखता, 'पड़ कर' ही सीखता है! बल्कि पड़ कर भी नहीं सीखता,—'पड़ा हूं'—इस बोध की तीव्र अनुभव से सीखता है। आघात बड़ी बात नहीं है, आघात तो कितने लगे और लगते हैं—पर मोह से आदमी सब भूल जाता है—श्मशान वैराग्य आता है: पर आघात के दुःख का अनुभव तीव्र होना चाहिए और वह अनुभव दृढ़ हो, यही बात है।

आदमी-आदमी में तो भेद है ही,—असभ्य और सभ्य व्यक्ति में भेद है किसमें? बुद्धि के विकाश में न? बुद्धि का क्या काम है? वह अतीत अनुभवों के आधार पर वर्तमान और अतीत-

वर्तमान के अनुभवों के आधार पर भविष्य के जीवन को नियन्त्रित करती है तो ? अर्थात् बुद्धि का काम है मनुष्य को हमेशा अपनी परिस्थिति की ओर सजग, सावधान रखते हुए उसे नई आनेवाली परिस्थिति के लिये तैयार रखना: इस तैयार-रहने में ही जीवन की शक्ति है,—क्या व्यक्तिगत, क्या समाजगत, क्या राष्ट्रगत सभी जीवन के लिये यह बात लागू है। इस लड़ाई में तो इस बात का प्रमाण काफी मिला है न ? असभ्य, बुद्धिहीन, मोहग्रस्त वह है जो घटना घट जाने के बाद घबड़ाता है या तैयार होने लगता है और बुद्धिमान् वह है जो सम्भाव्य (probable) घटनाओं के लिये पहले से ही तैयार रहता है।—मृत्यु की क्या बात, शोभन की बीमारी से भी तो 'जबर्दस्त shock लगा' न ?

"दुःख, असुविधा, प्रतिकूलता के सम्मुख आने पर ही तो यह ध्येय भी सामने आता है—एक विवशतास्वरूप आवश्यकता बन कर।"—यह है प्राथमिक स्तर की (बुद्धि के) बात। पर जहां बुद्धि कुछ विकसित हुई है वहां पर तो वह हमेशा Natural Laws को देखना चाहेगी न, 'विवशता' की बात कहां ? अपने व्यक्तिगत जीवन में और उसके चारो ओर जो घटनाएं घट रही हैं उन्ही के सजग अध्ययन से वह हमेशा नियम को सत्य को ढूढती रहेगी न ? और फिर उस नियम और सत्य को अपने जीवन के व्यवहार में काम में लावेगी तो ? यही न बुद्धि की तैयारी, और इसी में ही न बुद्धि का गौरव, श्रेय, सार्थकता है ? 'पूरा' न कि 'अंश' देखना है। यदि 'विवशता' हो तो जीवन ही विवश है : Life has got limits !! 'Limits' का ज्ञान ही बुद्धिमानी है !

इस तरह देखने से हमेशा, हर जगह, हर परिस्थिति मे एक सहज प्राकृतिक नियम जो दीख पड़ता है—वह है *positive-negative* का संघात : शरीर में भी हमेशा anabolism-katabolism, सृष्टि-ध्वंस चल रहे हैं ! दो मिलकर ही संसार, एक से सृष्टि नही है:—इसी को ही कहता है संसार द्वन्द्वात्मक है:—संसार मानो हो 'दो' है। 'एक' से, 'अंश' से क्या ?

वर्षा के दिन हैं : सुबह आकाश साफ है, खुली धूप निकली,—बिछौने बाहर धूप में डाले हुए हैं ! क्या चूकि सामने

खुली धूप है, इसलिये खुली धूप रहेगी—यह मानकर निश्चिन्त रहने से काम बनेगा, या किसी भी समय बादल घेर कर बरस सकता है इतना खयाल रख कर काम करने पर काम ठीक तरह होगा ? बल्कि अच्छी तरह से धूप का उपयोग किस भाव से होगा और बिछौने भीगेंगे नहीं ?—ठीक उसी तरह negative का खयाल रहने पर positive से अच्छी तरह काम लिया जा सकता।

जो-है-सो-है तुम्हारे व्यक्तिगत जीवन में भी लागू किया, पर उस 'जो-है-सो-है' में तो प्रगति का कोई गुंजाईश ही नहीं है न ? यह तो दुरुपयोग हुआ ! अपनी स्थिति को स्वीकार कर एक कदम आगे बढ़ने की बात भी तो उसी में है न ?

तुम्हारी यह विशेषता अब तक रही है कि घटना घटने के बाद उसकी शिक्षा को भूलते आये हो—याद नहीं रख सका, सजगता, सावधानता नहीं रहीं। आघात तो काफी मिले !—अब भी एक ही भूल से वृद्ध पिता की कमाई पर गुजारा करना पड़ रहा है; खुद पिता हो कर अपने पुत्र की जिम्मेवारी नहीं ले सका, फिर भी मां को—मिनति को—पढ़ने के लिये भेजना पड़ा। तुमने जिस इरादे से अपने को भूला कर 'नवशक्ति' छोड़ा, उसका क्या हुआ ? आश्रम में क्या कह गया था—याद है ? कितने pages तैयार हुए ? अब तुमको हिसाब देना है !

पुत्र के प्रति सत्य स्नेह एक बात है और मोहान्ध over-solicitousness दूसरी बात है—सत्य स्नेह पिता और पुत्र दोनों का कल्याण करता है, मोह दोनों का ही नुकसान करता है।

आंखें खोलो,—तुम्हारे जीवन में, तुम्हारी चारों ओर सत्य के अनुभव के लिये काफी facts हैं; बुद्धि का सम्मान करो,—बुद्धि को काम दो;—अपनी स्थिति का अध्ययन करो,—अभी तक स्वावलम्बी न हो क्यों ? अभी तक 'बच्चा' बने हुए हो।

सिर्फ cheap, idle sentimentalism से कुछ भी नहीं बनेगा : हमेशा जो-है-सो-है को लगाना, न कि अपनी कमजोरी

ढकने के लिये ! 'नवशक्ति' छोड़ने के समय की स्थिति याद करो, विचार करो, किस तरह भूल किया था—और, अतीत तो है ही !

प्रज्ञानपाद

यदि हो सके—Ruskin का जीवन अध्ययन कर देखो—अपने पिता-माता के मोह के कारण इतनी बड़ी प्रतिभा किस तरह अधूरी रह गई, और अन्त में प्राय: १५ वर्ष पागल हो कर जीवन बिताना पड़ा उनको—६०/७० वर्ष तक 'बच्चा' ही रह गये ! कितना धिक्कार था !

आनन्दकुटी, ६-१०-४३

शुभाशीर्वाद,

शोभन उत्तरोत्तर उन्नति करता जा रहा है—अच्छी बात है।

जिस उद्देश्य से वह पत्र लिखा गया था, वह उद्देश्य बहुत अंशों में सिद्ध हुआ। तुमको मालूम ही है कि तुम्हारे साथ जो संबन्ध है उसमें 'आक्षेप या ताने' की गुंजाईश नहीं हो सकती और न गलतफहमी की। तुम्हारी समझ में आवे या नहीं, जो तरीका तुम्हारे कल्याण के लिये था, समय-समय पर वही बर्ता गया—

प्रज्ञानपाद

आनन्दकुटी, २३-११-४३

शुभाशीर्वाद,

सब परिस्थिति देखते हुए तत्काल जो उचित है वैसा ही तय करोगे, इसमें सन्देह नहीं है। अब दूर से कुछ कहना ठीक नहीं है। रवीन्द्रनाथ की एक बात याद आ रही है—

' मृत्युके जे एड़िये चले मृत्यु तारेइ टाने,
मृत्यु जारा बुक पेते लय बांचते ताराइ जाने।'

—जो लोग मृत्यु के सामने अपने को छिपाना चाहते हैं उनको मृत्यु हमेशा खींचती रहती है,—और वे ही लोग जीवन का रस लेते हैं जो अपनी छाती पर मृत्यु को स्वागत करते हैं।

जन्म-मृत्यु की अविच्छेद्य पृष्ठभूमिका के ऊपर जब तक जीवन है तब तक 'रहेगा' इस खयाल से चलना चाहिए। ……

मन को अनिवार्य के लिये तैयार रखते हुए वर्तमान में चलना ही बुद्धिमान का काम है।

यहां पर एक मायी आई हुई है,—साथ ही लौटेगी: इस लिये बनारस आने में असुविधा है। १२ दिसंबर के पहले यहां से चलना नहीं है। बीच बीच में खबर देते रहना—

प्रज्ञानपाद

आनन्दकुटी, २६-११-४३

शुभाशीर्वाद,

सत्य को आमना-सामना देख कर तुम स्थिर रहोगे, इसमें सन्देह नहीं है।† तुम ही मिनति का निर्भर और आश्रयस्थल हो, उसको धैर्य और सान्त्वना देने का अधिकारी बनो,—मां को धीरज दो।

यदि जरूरत समझो और नितांत असुविधा न हो तो वहां के वातावरण से दो-चार दिनों के लिये तुम लोग यहां पर चले आवो,

प्रज्ञानपाद

आनन्दकुटी, १-१२-४३

शुभाशीर्वाद,

……अपने भाव को दबाना नहीं,—दुःख आवे रोने में दबाव नहीं रखनी। मिनति को रोने दो,—यदि रुलाई आवे।

† बच्चे की मृत्यु की सूचना पाने पर स्वामी जी ने यह पत्र लिखा है।

फिर यहां का पहला लम्बा पत्र यदि हो उसे चाहे पढ़ो--देखो सत्य को--सब उदय-अस्तमय ! यह संसार है--संसरति--सर्-सर् चल रहा है--क्षण-क्षण में सब रूपान्तर पाता है, कोई भी रूप, कोई भी स्थिति स्थायी नहीं। गर्भ से लेकर उसके शरीर पर कितना उलट-फेर हुआ--स्थिर तो था नहीं।--

प्रज्ञानपाद

आनन्दकुटी, ७-१२-४३

शुभाशीर्वाद,

तुम्हारा विचार ठीक है। तुम लोगों के मन की शक्ति लौट आई, यही तो आशा की जा सकती। फिर भी सत्य के व्यावहारिक रूप के दो अविच्छेद्य अंगों को स्पष्टरूप से देखो--positive और negative, सुख-दुःख आदि के भीतर से ही जीवन की धारा बह रही है,--जैसे 'चने' आदि, का दाना --भीतर दो है और उन 'दो' को छिपाकर एक आवरण ऊपर से 'एक' देखा रहा है--जब अंकुर आता है, देखो उसमे भी दो पत्ते ! फिर उनके बीच से काण्ड निकलता है,--'दो' के आश्रय से ही जीवन ! जीवन के हर अंग मे दो ! ससार की धारा या कोई भी हरकत 'एक' से हो नही सकता,--हमेशा दो--हर बात के two aspects ! जन्म-मृत्यु, सुख-दुःख, संयोग वियोग, अच्छा-बुरा--हमेशा दो,--कही भी 'एक' नहीं है ! ! इसी विचार से ही, दो-को स्वीकार करने से ही जीवन में शक्ति, धैर्य, आनन्द, शान्ति।
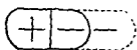
कवि के वर्णन में रवीन्द्रनाथ की यह कविता देखो.

चिरकाल एकइ लीला गो--
अनन्त कलरोल।
अश्रुत कोन् गानेर छन्दे
अद्भुत एइ-दोल।

दुलिछ, गो दोला दितेछ,—
पलके आलोके तुलिछ, पलके
आंधारे टानिया नितेछ।

समुखे जखन आसि,
तखन पुलके हासि,
पश्चाते जबे फिरे जाय दोला,
भये आंखि जले भासि।
समुखे जेमन पिछेओ तेमन
मिछे मोरा करि गोल।
चिरकाल एकइ लीला गो
अनन्त कलरोल।
डान हात हते बाम हाते लओ,
बाम हात हते डाने।
निजधन तुमि निजेइ हरिया
की जे कर के बा जाने।

कोथा बसे आछ एकेला।
सब रविशशी कुड़ाये लइया
ताले ताले कर ए खेला।
खुले दाओ क्षणतरे,
ढाका दाओ क्षणपरे,
मोरा केंदे भावि आमारि की धन
के लइल बुझि हरे!
देवा नेवा तव सकलि समान,
से कथाटि के वा जाने।
डान हात हते वाम हाते लओ
वाम हात हते डाने।

एइमतो चले चिरकाल गो
शुधु जावा, शुधु आसा।

चिर दिन रात आपनार साथ
आपनि खेलिछ पाशा।

आछे तो जेमन जा छिल।
हाराय नि किछु फुराय नि किछु
जे मरिल जे वा वांचिल।

वहि सब सुखदुख
ए भुवन हासिमुख,
तोमारि खेलार आनन्दे तार
भरिया उठेछे बुक।
आछे सेइ आलो, आछे सेइ गान,
आछे सेइ भालोवासा।
एइमतो चले चिरकाल गो
शुधु जावा, शुधु आसा।†

प्रज्ञानपाद

बरानगर ५-७-४४

शुभाशीर्वाद,

हमेशा अपने को स्वीकार करने का भाव रखते हुए 'सचेत' रहने की कोशिश जारी रखना—तब सब कुछ आसान हो जायगा।

परिवर्तन ही संसार है, सुतरां 'जब जैसा तब तसा,'— इस सत्य का याद करो तो परिस्थिति के परिवर्तन मे मजा ही मालूम होगा,—फिर 'दो कुछ भी समान नही है' इस सत्य का खयाल रहने पर तरह तरह के लोगों के व्यवहार से और भी अधिक आनन्द होता रहेगा।

† स्वामी जी ने यह कविता बंगला लिपि में लिखी थी, जिसे ज्यों का त्यों देवनागरी लिपि में रूपान्तरित किया जा रहा है।

साथ ही साथ दूसरी जगहों में संभव होने पर काम के लिये कोशिश करना।······

प्रज्ञानपाद

प्रसाद, १६-४-४७

शुभाशीर्वाद,

प्रकृति की सहज स्थिति है शान्त ! एक ओर अशान्त होने पर उस अशान्त भाव को नष्ट कर देने के लिये दूसरी ओर खींचाव होती है—जैसे Pendulum. सहज normal स्थिति है 'क', पर एक ओर जितनी दूर गति होगी,—फिर दूसरी ओर उतनी दूर ही,—फिर यह ही oscillation—उस शान्त अवस्था में आने के लिये । धीरे-धीरे फिर 'क' पर ! मन की स्थिति भी ऐसी है।

ख क ग

सहज रहने की कोशिश हमेशा करना—अपने को स्वीकार करना ही इसकी नींव है।
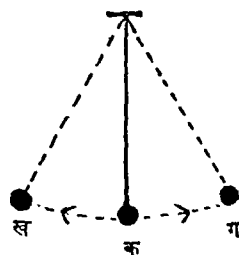
एक दूसरे को देखो, समझो,—जीवन के विशाल प्रयोगक्षेत्र का यही है Laboratory. अपने को, मिनति को और दूसरे सवों को स्वीकार करो, आगे बढ़ो—

'शान्तं शिवमद्वैतम्'
प्रज्ञानमानन्दम्

प्रज्ञानपाद

[?]-७-४७

······साधक 'साधक' है, 'सिद्ध' नहीं—साधक का धर्म है—अपनी स्थिति के अनुसार चलना, आगे बढ़ना—न कि सिद्ध की स्थिति के साथ अपने को मिलाना।—मिलाना तो इसलिये कि—आगे बढ़ने के लिये उत्साह मिले—'सकल पथइ बाकि आछे, सेइ कथा रय मने।'

आश्रम, ६-११-४८

शुभाशीर्वाद,

……फिलहाल तुम अपने स्वास्थ्य के बारे में पुरी नजर दो : dysentery का शारीरिक कारण तो है ही, मानसिक उद्वेग, भावों का निग्रह भी उसके लिये प्रवल कारण बन सकता है। अब तो मिनति तुम्हारे पास है, हर तरह की सेवा उससे लेकर अपने को रोगमुक्त, सुस्थ, प्रसन्न बनाओ—"देखता हूं कि मिनति के न रहने पर मन की उथल-पुथल बहुत बढ़ जाती है और वह बहुत कमजोर हो जाता है।" इसलिये ही तो मिनति को लिखा था कि वह अब तुम्हारे पास 'पुरा' रहे। अब वेफिक्र रहो, रे पगला, वेफिक्र रहो!

खुश रहो, मन को सत्य के अन्दर रखने की कोशिश करो —अपने कांगाल हृदय को भर लो, राजा बन जाओ—

प्रज्ञानपाद

प्रसाद, २०-७-४६

शुभाशीर्वाद,

हां, ठीक तो है, objectively चीजों को देखने की कोशिश करनी चाहिए। यहां objectively देखने की क्या बात है? किताब जब तक तुम्हारे हाथ में थी तब तक तुम्हारी थी—जब बाहर हो गई तब तो सबों की है। सुतरां जिसकी जैसी रुचि उसकी राय उसी के मुताबिक होगा—अनुकूल-प्रतिकूल विचारों में भी तीव्रता पर खयाल रखना चाहिए ताकि यह सत्य मालूम हो कि क्यों ये तीव्र विरोध! समाज के सत्य रूप का पता लग जायगा कि लोगों के मन की स्थिति कैसी!……

प्रज्ञानपाद

प्रसाद, १०-११-४६

शुभाशीर्वाद,

······अन्तर्मुख होने की कोशिश करते रहो; जिस भांति खूब ही छोटी कोई चीज भी आंख के सामने आ जाय तो वह बाहर की सब कुछ चीजों को ढक देती है उसी भांति स्वार्थ-सुख की क्षुद्र भावना अगर दिल के सामने आ जाये तो वह बाहर और भीतर के सब हितों को अपनी नज़र से दूर कर देती है—'काम अन्ध तमः'! क्षुद्र स्वार्थ-भावना अपने को कितना छोटा कर देती है उसका खयाल हमेशा रहे, तो ? तुम छोटा कैसे होगे ? जिस बड़प्पन को दृष्टि में रख कर सोच रहा था,—वह सचमुच कितना छोटा था देखो !—'काम अन्ध तमः प्रेम निर्मल भास्करः।'

'निजेरे करिते गौरवदान
निजेरे केवलि करि अपमान।'†

दूसरी बात—अपने को हर समय देखते रहना—बल्कि हमेशा जो कुछ कर रहे हो उसे देखते रहना—क्रम के साथ। औसद नहीं। सब कुछ objectively—हां, लिखने पढ़ने के समय, लिखने की पढ़ने की चीज पर ही प्रधानतः ध्यान रखना चाहिए,—दूसरे समय कामों के करते समय 'क्रम' पर ध्यान रखने का अभ्यास जितना ही दृढ़ और सहज होता जायगा उतना ही और समय भी सहज होगा। रही 'बोझ' की बात ! पहले तो बोझ मालूम होगा ही क्योंकि पुराने अभ्यास ही सहज हो गया, वही **अपना** है; उससे विपरीत कुछ भी—ठीक भी—**पराया** है न ? फिर नया अभ्यास ही उस पुराने अभ्यास के बन्धनों को तोड़ देगा। देखो, मजे की बात है न ? मानों तुम तेल या साबुन लगा रहे हो **अपने बदन** पर। 'बदन' मानी **बदन** तो है, न ? हर हिस्सा तो उसमें शामिल है न ? तब ? हर एक अंश में साबुन लगा या नहीं इस पर नजर रखना मानी तो बदन पर साबुन लगाना न ? फिर बोझ का क्या मतलब है ? तब ही देखो, मन किस कदर काम

† रवीन्द्रनाथ ठाकुर

करता था ! "यही देखूं कि जो कर रहा हूं वह mechanically नहीं, deliberately, purpose के साथ।" अपने 'ऐश्वर्य' में ही रहने का प्रयत्न चाहिए।······

देवव्रत के साथ 'indirectly' काम करना ही अच्छा है; अपने स्वार्थो के बारे मे 'directly' बात करने से भद्दापन लगता है न? 'directly or indirectly'—समय, जगह या व्यक्ति पर नजर रखकर ही करना चाहिए —फिर विषय पर भी। स्वार्थो पर directly बात करने से आदमी छोटा हो जाता है;—सूर्य की ओर पीछा करो तो सामने है अपने शरीर की छाया,—उस छाया को पकड़ने के लिये दौड़ो तो छाया आगे भागती रहती है तुम्हारे वश म नहीं आती,—पर अगर सूर्य की ओर मुखातिब होकर चलो सूर्य की ओर तो छाया तुम्हारे पीछे पीछे चलती है न? ठीक उसी भांति अपने 'ऐश्वर्य' की ओर ध्यान रख कर चलो तो स्वार्थ की सिद्धि आपसे आप होती है,—नही तो सिर्फ स्वार्थो पर नजर रख कर चलते रहने से वे आगे-आगे भागते जाते हैं—वश मे नही आती—हाय, हाय —नही हुआ, नही मिला — अतृप्ति अशान्ति ही हाथ लगे!

प्रज्ञानपाद

सत्य अगर जीवन के हर अंग मे प्रकाशमान न रहे तो वह सत्य क्या और वह सत्यानुशीलन क्या?

प्रसाद, ५-५-५०

शुभाशीर्वाद,

······वर्तमान जीवन में 'भूत' का आवेश—यही है सब अशान्ति का जड़, जो-है-नहीं-वही आकर जो-है-उस पर सवार हो कर काम कराता है। कैसी विचित्र स्थिति है!!—जो-है-वही काम कर सके—सिर्फ इतनी बात है। देखो!······

लड़ाई लड़ने में ही तो जीवन में सब शक्ति और शान्ति का मूल है—पहले रुद्र फिर शिव—'रुद्र यत्ते दक्षिणं मुख तेन मा

प्रसाद, १०-११-४६

शुभाशीर्वाद,

······अन्तर्मुख होने की कोशिश करते रहो; जिस भांति खूब ही छोटी कोई चीज भी आंख के सामने आ जाय तो वह बाहर की सब कुछ चीजों को ढक देती है उसी भांति स्वार्थ-सुख की क्षुद्र भावना अगर दिल के सामने आ जाये तो वह बाहर और भीतर के सब हितों को अपनी नज़र से दूर कर देती है—'काम अन्ध तमः'! क्षुद्र स्वार्थ-भावना अपने को कितना छोटा कर देती है उसका खयाल हमेशा रहे, तो ? तुम छोटा कैसे होगे ? जिस बड़प्पन को दृष्टि में रख कर सोच रहा था,—वह सचमुच कितना छोटा था देखो !—'काम अन्ध तमः प्रेम निर्मल भास्करः।'

'निजेरे करिते गौरवदान
निजेरे केवलि करि अपमान।'†

दूसरी बात—अपने को हर समय देखते रहना—बल्कि हमेशा जो कुछ कर रहे हो उसे देखते रहना—क्रम के साथ। औसद नहीं। सब कुछ objectively—हां, लिखने पढ़ने के समय, लिखने की पढ़ने की चीज पर ही प्रधानतः ध्यान रखना चाहिए,—दूसरे समय कामों के करते समय 'क्रम' पर ध्यान रखने का अभ्यास जितना ही दृढ़ और सहज होता जायगा उतना ही और समय भी सहज होगा। रही 'बोझ' की बात ! पहले तो बोझ मालूम होगा ही क्योंकि पुराने अभ्यास ही सहज हो गया, वही **अपना** है; उससे विपरीत कुछ भी—ठीक भी—**पराया** है न ? फिर नया अभ्यास ही उस पुराने अभ्यास के बन्धनों को तोड़ देगा। देखो, मजे की बात है न ? मानों तुम तेल या साबुन लगा रहे हो **अपने बदन** पर। 'बदन' मानी **बदन** तो है, न ? हर हिस्सा तो उसमें शामिल है न ? तब ? हर एक अंश में साबुन लगा या नहीं इस पर नजर रखना मानी तो बदन पर साबुन लगाना न ? फिर बोझ का क्या मतलब है ? तब ही देखो, मन किस कदर काम

† रवीन्द्रनाथ ठाकुर

करता था ! "यही देखूं कि जो कर रहा हूं वह mechanically नहीं, deliberately, purpose के साथ।" अपने 'ऐश्वर्य' में ही रहने का प्रयत्न चाहिए।······

देवव्रत के साथ 'indirectly' काम करना ही अच्छा है; अपने स्वार्थों के बारे में 'directly' बात करने से भद्दापन लगता है न? 'directly or indirectly'—समय, जगह या व्यक्ति पर नजर रखकर ही करना चाहिए —फिर विषय पर भी। स्वार्थों पर directly बात करने से आदमी छोटा हो जाता है;—सूर्य की ओर पीछा करो तो सामने है अपने शरीर की छाया,—उस छाया को पकड़ने के लिये दौड़ो तो छाया आगे भागती रहती है तुम्हारे वश में नहीं आती,—पर अगर सूर्य की ओर मुखातिब होकर चलो सूर्य की ओर तो छाया तुम्हारे पीछे पीछे चलती है न? ठीक उसी भांति अपने 'ऐश्वर्य' की ओर ध्यान रख कर चलो तो स्वार्थ की सिद्धि आपसे आप होती है,—नहीं तो सिर्फ स्वार्थों पर नजर रख कर चलते रहने से वे आगे-आगे भागते जाते है—वश में नही आती—हाय, हाय—नहीं हुआ, नहीं मिला— अतृप्ति अशान्ति ही हाथ लगे!!

प्रज्ञानपाद

सत्य अगर जीवन के हर अंग में प्रकाशमान न रहे तो वह सत्य क्या और वह सत्यानुशीलन क्या ?

प्रसाद, ५-५-५०

शुभाशीर्वाद,

······वर्तमान जीवन में 'भूत' का आवेश—यही है सब अशान्ति का जड़, जो-है-नहीं-वही आकर जो-है-उस पर सवार हो कर काम कराता है। कैसी विचित्र स्थिति है!!—जो-है-वही काम कर सके—सिर्फ इतनी बात है। देखो!······

लड़ाई लड़ने में ही तो जीवन में सब शक्ति और शान्ति का मूल है— पहले रुद्र फिर शिव—'रुद्र यत्ते दक्षिणं मुखं तेन मा

पाहि नित्यम्।'—हे रुद्र! तुम्हारा जो दक्षिण--कल्याणकारी—मुख है, रूप है—उससे नित्य मुझे पालन करो!

प्रज्ञानपाद

प्रसाद, ३-१०-५०

शुभाशीर्वाद,

······उसने [मिनति ने] तुमको कहा होगा,—कैसी मर्मन्तुद व्यथा से उसका हृदय फट रहा था अपनी संकीर्णता के वन्धन और चोटों के अनुभव से और उसके साथ लड़ाई करने से। फिर किस भांति आया उसका आत्मानुभव, और उस अनुभव को वर्दाश्त करने में उसके शरीर के स्थूल सीमावद्ध आवरणों की असमर्थता के कारण वेचैनी, जैसे हृदय उथल पुथल में चकनाचूर होता जाय—इस प्रगाढ़ आनन्द के कारण संज्ञाशून्य होने की स्थिति आ जाय। फिर छाती के भीतर एक 'भरा-भरा' भाव और कुछ समझ में न आवे—फिर प्रज्ञान की दृष्टि से उसे देखने की चेष्टा : दुर्लभ यह अनुभव; मानवजीवन के लिए कसौटी। खैर! वह पाई 'भाव' से, फिर वुद्धि से, प्रज्ञानदृष्टि से उसका विश्लेषण कर स्थिति को अपनाई; तुम चलो वुद्धि से 'भाव' की ओर! स्त्री-पुरुष में प्रायः यही भेद है।

हमेशा सजग रख कर अपने को चलाओ—कभी 'मोह' आकर न पीछे से सब कुछ ढक सके,—अपनी संकीर्णताओं की क्षुद्रता अपने को अलग कर लेती है 'सव' से! काटो उनको—

प्रज्ञानपाद

प्रसाद, १९-११-५३

शुभाशीर्वाद,

विद्याभूषण के वारे में तुमने जो विश्लेषण दिया, वह सब ही 'मन-में-करने' की वात है न कि 'देखने' का फल! किसी सिद्धान्त पर पहुंचने के पहले 'data' या 'facts' जहां तक अधिक

हो सके वहां तक ही सिद्धान्त दृढ़मूल होता है, और वहां तक ही वास्तव और सत्य और कार्यकर। और वह भी निर्भर करता है उस पर कि कहां तक, कितनी दूर तक 'देखा'! एक दिन विद्याभूषण तुम्हारे 'घर' आया और जो कुछ बातें हुईं—इस पर ही तुम्हारा वर्णन है। लेकिन उस दिन के बाद उसके मन की स्थिति कैसी हुई—यह तुमने देखा नहीं, सिर्फ 'मन-में-करते' हो न? वह सब तो 'हो-सकने' की बात है—'हुआ' की बात नहीं है। जहां तक हो सके 'हो-सकता-है' पर निर्भर न कर 'क्या-हुआ' पर निर्भर करना चाहिए। और वह होगा 'देखने' पर।

दूसरी बात यह है कि चूंकि विद्याभूषण ने कहा था—'फिर आऊंगा'—इसलिये तुम बहुत देर तक उसका इन्तजार करते रहोगे और खुद आगे नहीं बढ़ोगे यह भी कैसी बात देखना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति में 'मिथ्या अहंकार' है—दूसरे के घर जाना उस मिथ्या अहंकार के लिये तकलीफदेह है, खासकर एक बार जाने के बाद वह यह आशा करता ही है कि दूसरा भी मेरे घर पर आवे। 'देना-लेना' की यह सहज मांग है। खास कर इस सिलसिले मे! फिर तुम्हारी 'मित्रता' के लिये तो यह स्वाभाविक आशा ही है। रही बात छोटे-बड़े की। तुमको अपने घर पर लाने में उसके मन में तुमको छोटा' करने के फलस्वरूप अपने को 'बड़ा' समझना स्वाभाविक ही है, बल्कि उससे उसके दिल की सहज स्थिति का परिचय तुमको आसानी से मिलेगा।

तीसरी बात यह है कि तुमको करना है न? Initiative तुम्हारे अपने हाथों में लेना है न? तुम 'कर्ता' जब, तब तुमको सिर्फ यही देखना है कि मैंने कहां तक किया, जहां तक करना था वहां तक किया या नहीं। और इस करने का रहस्य तो straight line में एकदम सीधा नहीं है न? क्योंकि

'लेना?' तो पहले 'देना'

Stoop to conquer.

एक कदम आगे तो दो कदम पीछे.

First obey, then rule—

आदि प्रवादों का क्या अर्थ है?

Let not the sun go down within your wrath का भी क्या रहस्य है ?

हमेशा 'passive' ? जीवन तो 'active' है न ? उस 'activity' की मदद के लिये ही कभी कभी passive होना पड़ता है क्योंकि

They also serve who **wait** and **see** ! सुतरां कुछ दिन ठहरने के बाद तुमको ही आगे बढ़ना चाहिए। उसके घर जाना तो पहले 'return visit' के नाते भी और वस्तुस्थिति के सठीक ज्ञान के लिये भी। हो सकता है, पहले सिर्फ 'return visit' का ही सहारा लेते हुए 'wait and see' के द्वारा वस्तुस्थिति को जानो फिर उसी के आधार पर अपने 'विषय' पर उतरो या नहीं समझ कर काम करो। उसके घर जाना ही उसके मन पर तुम्हारे दिल के 'अविरुद्ध भाव' का प्रकाश करना होगा—'मैं ही जाता हूं उनके घर, वह तो आते नहीं मेरे घर पर'—का एक बोझ और तज्जनित एक विद्वेष (तुम्हारे प्रति) उसके दिल से उतर जायगा। तब भाव-प्रकाश की सहजता आवेगी। फिर वस्तुस्थिति को 'देखो' और आगे बढ़ने की दिशा तय करो—क्योंकि आगे बढ़ना ही है। मिथ्या 'स्वाभिमान' का स्थान यहां पर नहीं है। 'देखना' है न कि 'मन-में करना'।

चौथी बात है—ऐसा न करने का फल क्या हो रहा है ? अपने दिल में इस व्यापार की एक उलझी हुई समस्या को ढोते रहते हो; दिल सहज अपने आप में नहीं रह पाता है।......

प्र०

आश्रम, १४-४-५५

शुभाशीर्वाद,

सब ठीक है। 'जीविका' एक छोटी चीज—यह धारणा तो मिथ्या है न ? शरीर सुस्थ-नीरोग-बलवान् रहे, शरीर-रक्षा का साधन अनुकूल रहे तभी मन का कुछ काम हो सकता है—सत्य सठीक जीविका जीवन का आधार है—इसे तो छोटा मानने

की कोई बात नही है। हां, जो लोग सिर्फ रुपैया के लिये ही रुपैया चाहते हों, जितना चाहिए उससे बहुत ज्यादह कमाने के फिक्र मे हो—वह अवश्य ही भद्दा काम है क्योंकि वह असत्य है। वरना जीविका तो मनुष्य के सब कामों का आधार है। इसे कभी छोटा नही मानना। हां, 'अपना काम' हो और जीविका भी चले यह तो उत्तम है।

अगर तुम्हारा लिखना संभव हो इतना रुपया तुमको मिलता जाय तो दूसरा काम क्यों किया जाय ? फिर इसके साथ सिर्फ परीक्षा experiment करने का और समय नहीं है—आयु काफी हो चली, शरीर का सामर्थ्य कम हो रहा है—'कमायेंगे और खायेंगे'—hand to mouth—चलने का मौका अब कम होता जा रहा है, सुतरां अपना बन्दोवस्त तो करना ही है, चूंकि बाहर से तो व्यवस्था नही है समाज में या राष्ट्र में। यह बात सही जरूर है कि दूसरे काम में समय और शक्ति के खर्च के बाद तुम्हारे लिखने के लिये शक्ति मिलना कुछ कठिन जरूर मालूम होता है। तो पर भी जहां तक हो सके अनुकूल काम की तलास करनी चाहिए।

बाकी, तुम्हारी मन की स्थिति के लिये, "अपने को छोटा मानने का भयभीत रहने का बोझ कितना अपमानजनक है" इसे अनुभव करने के बाद उस घबडाहट से मुक्त होने, भागने के लिये सिगरेट का इस तरह इस हद तक आश्रय लेने की जरूरत पड़ी—मन की दशा अभी तक ऐसी है—इसे अच्छी तरह पकड़ना चाहिए—सावधान होना चाहिए ताकि मन सिर्फ अभ्यासवश चलता चल रहा है यह विडम्बना कम होता जाय। यही तो है तुम्हारे लिये सजग रहने का एकमात्र कारण।

मिनति के बारे में जो लिखा वह तो ठीक ही है—पर वही भागना फिर ? भागोगे कहां, जय करना है न ? जहा तक हो सके जोर के साथ ! जहां तक जल्द अपना रहने का स्थान बना ही लेना है, ज्यादह दिनों तक इस तरह घुमते रहना नही। तुम ने एक बार मिनति को लिखा था अगर उसके लिये स्वामीजी के पास रहने में असुविधा हो तो पटने में 'सिनहा' के मकान मे रहने का बन्दो-

Let not the sun go down within your wrath का भी क्या रहस्य है ?

हमेशा 'passive' ? जीवन तो 'active' है न ? उस 'activity' की मदद के लिये ही कभी कभी passive होना पड़ता है क्योंकि

They also serve who **wait** and **see** ! सुतरां कुछ दिन ठहरने के बाद तुमको ही आगे बढ़ना चाहिए। उसके घर जाना तो पहले 'return visit' के नाते भी और वस्तुस्थिति के सठीक ज्ञान के लिये भी। हो सकता है, पहले सिर्फ 'return visit' का ही सहारा लेते हुए 'wait and see' के द्वारा वस्तुस्थिति को जानो फिर उसी के आधार पर अपने 'विषय' पर उतरो या नहीं समझ कर काम करो। उसके घर जाना ही उसके मन पर तुम्हारे दिल के 'अविरुद्ध भाव' का प्रकाश करना होगा—'मैं ही जाता हूं उनके घर, वह तो आते नहीं मेरे घर पर'—का एक बोझ और तज्जनित एक विद्वेष (तुम्हारे प्रति) उसके दिल से उतर जायगा। तब भाव-प्रकाश की सहजता आवेगी। फिर वस्तुस्थिति को 'देखो' और आगे बढ़ने की दिशा तय करो—क्योंकि आगे बढ़ना ही है। मिथ्या 'स्वाभिमान' का स्थान यहां पर नहीं है। 'देखना' है न कि 'मन-में करना'।

चौथी बात है—ऐसा न करने का फल क्या हो रहा है ? अपने दिल में इस व्यापार की एक उलझी हुई समस्या को ढोते रहते हो; दिल सहज अपने आप में नहीं रह पाता है।······

प्र०

आश्रम, १४-४-५५

शुभाशीर्वाद,

सब ठीक है। 'जीविका' एक छोटी चीज—यह धारणा तो मिथ्या है न ? शरीर सुस्थ-नीरोग-बलवान् रहे, शरीर-रक्षा का साधन अनुकूल रहे तभी मन का कुछ काम हो सकता है—सत्य सठीक जीविका जीवन का आधार है—इसे तो छोटा मानने

की कोई बात नहीं है। हां, जो लोग सिर्फ रुपैया के लिये ही रुपैया चाहते हों, जितना चाहिए उससे बहुत ज्यादह कमाने के फिक्र में हों—वह अवश्य ही भद्दा काम है क्योंकि वह असत्य है। वरना जीविका तो मनुष्य के सब कामों का आधार है। इसे कभी छोटा नहीं मानना। हां, 'अपना काम' हो और जीविका भी चले यह तो उत्तम है।

अगर तुम्हारा लिखना संभव हो इतना रुपया तुमको मिलता जाय तो दूसरा काम क्यों किया जाय ? फिर इसके साथ सिर्फ परीक्षा experiment करने का और समय नहीं है—आयु काफी हो चली, शरीर का सामर्थ्य कम हो रहा है—'कमायेंगे और खायेंगे'—hand to mouth—चलने का मौका अब कम होता जा रहा है, सुतरां अपना बन्दोबस्त तो करना ही है, चूंकि बाहर से तो व्यवस्था नहीं है समाज में या राष्ट्र में। यह बात सही जरूर है कि दूसरे काम में समय और शक्ति के खर्च के बाद तुम्हारे लिखने के लिये शक्ति मिलना कुछ कठिन जरूर मालूम होता है। तो पर भी जहां तक हो सके अनुकूल काम की तलास करनी चाहिए।

बाकी, तुम्हारी मन की स्थिति के लिये, "अपने को छोटा मानने का. भयभीत रहने का बोझ कितना अपमानजनक है" इसे अनुभव करने के बाद उस घबड़ाहट से मुक्त होने, भागने के लिये सिगरेट का इस तरह इस हद तक आश्रय लेने की जरूरत पड़ी—मन की दशा अभी तक ऐसी है—इसे अच्छी तरह पकड़ना चाहिए—सावधान होना चाहिए ताकि मन सिर्फ अभ्यासवश चलता चल रहा है यह विडम्बना कम होता जाय। यही तो है तुम्हारे लिये सजग रहने का एकमात्र कारण।

मिनति के बारे में जो लिखा वह तो ठीक ही है—पर वही भागना फिर ? भागोगे कहां, जय करना है न ? जहा तक हो सके जोर के साथ ! जहां तक जल्द अपना रहने का स्थान बना ही लेना है, ज्यादह दिनों तक इस तरह घुमते रहना नहीं। तुम ने एक बार मिनति को लिखा था अगर उसके लिये स्वामीजी के पास रहने में असुविधा हो तो पटने में 'सिनहा' के मकान मे रहने का बन्दो-

वस्त हो सकता है। 'स्वामी जी के पास रहने में असुविधा' के खयाल से तो वह बात उठी नहीं थी, तुम्हारे लिये ही थी—इतना **अपने को देने** का जोर नहीं तुमको मिला था न ? पगला। "मिनति के प्रति क्रोध और 'अभिमान' !"…क्यों नहीं 'वदला लेना,' क्यों नहीं 'विद्रोह भी करना !' पर यह जो 'अलग रह कर' काम करने की चेष्टा—यह तो पराजय है न कि 'वदला लेना' और 'विद्रोह करना' ! पीछे हटना किस लिये ? इससे तुम्हारे साथ-साथ मिनति की परीक्षा के लिये भी तो मौका नहीं मिलेगा ! "मिनति पर मैं विल्कुल ही निर्भर न करूं—यही इच्छा थी। उसके प्रति ambivalence वरावर स्पष्ट रहा और objectively भी यही उचित लगा कि मैं अपने को **मुक्त करूं** उसके भी वंधन से और वचपन की मां के भी वंधन से"—पर क्या यह मुक्त करने का उपाय हुआ **'भागकर', त्याग कर** ? वंधन है मन में न, मन के **राग** में न ? **वैराग्य विना मुक्ति** ? भाग कर मुक्ति ? यही है objective ?

'अभिमान', मिनति के प्रति 'अभिमान' जव तक 'छोड़' रखोगे 'अपने लिये' तव तक अपने वंधनों में फंसा रहोगे और उसका सारा चपेट पड़ेगा स्वामीजी के ऊपर ही !

अभी भी 'लड़ने' का वह वाहरी झुकाव—वहिर्मुख दृष्टि वनी हुई है जो ? भाग कर लड़ाई नहीं होती, शत्रु के साथ आमना सामना ही लड़ाई होती है; 'त्याग' नहीं, वैराग्य ही सव मुक्ति का एकमात्र साधन है। रहो साथ, लड़ो साथ,—अपने को वचाओ, उसे भी वचाओ ! उठो-पड़ो, चलता चलो—→ —→भय किस लिये ? भय को एक वार आश्रय देने से 'छोड़ रखा अपने लिये'—वह अपनी जड़ मजवूत करता रहेगा ! भय को छोड़ रखना किसलिये ? उसे पकड़ना चाहिए **आज अभी**, अवश्य ही जहां तक हो सके अपनी शक्ति के अनुसार, पर कभी भी 'छोड़ रख' कर नहीं।……

सजग रहो,—'सकल पथइ वाकि आछे
सेइ कथा रय मने !
जेन भुले ना जाइ वेदना पाइ
शयने स्वपने !'

सावधान सावधान सावधान—आंखें बन्द नहीं करनी हैं—आखें खुली रहें हमेशा, हमेशा, हमेशा ! सिगरेट का सहारा और लेना न पड़े।

प्रज्ञानपाद

प्रसाद, ३०-७-५५

शुभाशीर्वाद,

……पहले कांग्रेस के खिलाफ सम्पादक की हैसियत से काम किया था, अगर पत्र की नीति के बारे में तुम्हारा हाथ भी रहा हो तो भी, उससे तो आज कांग्रेस के साथ जाने में कोई अनौचित्य नहीं है—तब कांग्रेस का एक रूप था और आज दूसरा रूप है ! समाजवादी रूप कांग्रेस को स्वीकृत है और उस ओर बढ़ने के लिये सज्ञान प्रयत्न हो रहा है—इस दृष्टि से कांग्रेस संगठन को दृढ़ करने के काम में और कांग्रेस के ऊपर के मैल को दूर करने की कोशिश मे अग्रसर होना उचित ही है सामाजिक दृष्टि से।

तब उस काम में जाना और कांग्रेस सदस्य न होना विपरीत बात है। सुतरा उस काम में जाना है या नहीं—यही देख लेना चाहिए। समाज के काम से या समाज से अपनी मुक्ति मिल गई या नहीं इस पर सब निर्भर है। अपनी सत्ता, समाज-सत्ता के नीचे है या ऊपर उठ गई—यह देखना है। सुतरा अगर समाज के साथ अपना तादात्म्य पूरा न हुआ हो—तब उसे अपनाने के लिये काम करना है, और राष्ट्र शक्ति अनुकूल न होने पर जब काम ठीक ठीक न हो सकता तब उस शक्ति को दृढ़ और शुद्ध करने के लिये काम करना पहला काम हो जाता है। देश में आज कांग्रेस को छोड़कर दूसरी संस्था भी नही है और कांग्रेस का रूप भी बदल गया है हालांकि कुछ लोगों में कांग्रेस विरोधी (कांग्रेसजनों में) भाव है, उस भाव को दूर करना तो काम है न ? कांग्रेस का मैल दूर करना।

तब इस दृष्टि से अगर देखा जाय और लालबहादुर से जो

बातें हुई हैं उसे देखते, जवाहरलाल जी, ढेबर जी, लालबहादुर आदि के साथ जाना ठीक ही लगता है। Organisation का काम क्या होगा है? सतर्क दृष्टि और साधारण बुद्धि रहने से ही काम हो जाता है, जो चाहे! एक बार शुरु तो करना होता है न? कोई 'experience' लेकर काम शुरु नहीं करता—करते करते 'experience' आ जाती है।

फिर इस तरह के व्यापक और जटिल कामों में जाने से तुम्हारे अन्दर अनन्त विचित्रता का बोध पक्का होगा। सुतरां इस काम में जाने में तुमको लाभ ही है!

अब ठीक तरह से देखो—

लालबहादुर से तुम्हारी जो बातें हुई, उसे देखते तुम उस काम में जा कर कांग्रेस को शुद्ध करने की कोशिश में लालबहादुर का साथ देने में आनन्दित ही होगे—इस तरह की खबर उसे दे सकते हो—

प्र०

आश्रम, १६-४-५८

शुभाशीर्वाद,

……जैसा सत्य देखा वैसा ही करो। और खूब देखो, देखते रहो, सत्य में अपनी प्रतिष्ठा अटल हो जाय—कितनी विचित्रता है खेल में : लोग काम करते बिना जाने, और उसी में ही हंसते-रोते रहते हैं,—अहंकार का विचित्र रूप—अपनाओ सबों को……

प्र०

प्रसाद, १२-७-५८

शुभाशीर्वाद,

सावधान रहो; अपने को 'स्वीकार' की एक अटूट धारा में रखो : अतीत को हमेशा याद रखना—स्वीकार के साथ,—तब दूसरों की बुद्धिहीनता, subjectivity आदि के

बारे में सहज भाव होगा—'है, वैसा ही' ! 'यह भी एक stage है,' 'यह भी एक प्रकाश है'—! ……

देखो—विचित्रता; तंग होना तभी जबकि अपनी subjectivity की दृष्टि से देखोगे !

Be always ready to be surprised—क्या मतलब ?

प्र०

प्रसाद, ६-८-५८

शुभाशीर्वाद,

……यहां पर भी वह जैसा है वैसा ही देखो—तभी न Sym-pathy ?

Be always ready to be surprised—हां, ठीक लिखा। जानना=होना :—"जिन बातों को ध्रुव सत्य के रूप में भी मान (?) लिया है वे जब पूर्ण अनुभव के क्षेत्र में आए हैं तब उनका बिलकुल ही नए रूप में मानों आविष्कार हुआ है। और इससे यह विश्वास (? प्रत्यय) और दृढ़ हुआ है कि बिना अपने प्रत्यक्ष अनुभव के कोई भी 'ज्ञान', कोई भी 'जानना' दृढ़ नहीं होता, पक्का नहीं होता, अपना नहीं होता। दरअसल उसे 'ज्ञान' और 'जानना' कहना अल्पज्ञता का ही चिह्न है।"—वह ज्ञान 'परोक्ष' है, अपने अनुभव का ज्ञान है 'अपरोक्ष'।—अपना,—पहला है 'बाहर का', अपना नहीं। इन आविष्कारों के तांता के बार बार अनुभवों से वह सहज हो जाता है,—पहले रहता है 'आनन्द', अपनेपन का 'रस'—फिर वही जम कर सहज हो जाता है—तब घोर शान्त !! सब कुछ 'अपनाया गया'—पराया कुछ नहीं रहा—'दो' नहीं रहा ! मेरा ही सब, मैं ही सब,—मैं ही मैं ! आविष्कार करते चलो !

मिनति को crystallised होने में मदद करो—

प्र०

प्रसाद, १४-१०-५८

शुभाशीर्वाद,

……कारण-कार्य का नियम अटल है : अभी कुछ कार्य हो, दिल में कुछ भाव हो, तो उसका कारण अभी ही होना चाहिए :— पहले अभी ही देखना है—कि इस कार्य का, जो हुआ उसका, कारण क्या मालूम हो रहा है। उस कारण को निकाल कर उसे दूर करने की कोशिश करना—(किस आधार पर ?—(१) परिवर्तन, (२) दो भिन्न, सब अलग,—"मेरी चाह के मुताबिक कुछ होना, और दूसरे के लिये कुछ करना असंभव है"; जो-हुआ-सो-हुआ, जो-हो-रहा-है-सो-हो-रहा-है और मेरे मन के अनुसार दूसरा कर नहीं सकता, अपने मन के अनुसार ही करेगा,--मैं मैं हूं और वह वह है !)—जब इससे भाव दूर न हो, मन में शान्ति-तृप्ति-आराम न आवे तब जानना चाहिए कि 'कारण' यहां नहीं है, कारण अतीत में है, तब उस अतीत को देखना, 'कारण' को, उसके अन्दर के निगृहीत भावों को खोलना, फिर जो-था-सो-था, अभी वह नहीं —परिवर्तन के सूत्र को काम में लगाना।—

देखो, जोड़ो कारण-कार्य, देखो मन का रूप—चलो; फिर जितना शीघ्र संभव बातें होंगी।

तुम लोगों के लिये ही तो है यह जीवन—रखना इसे तो तुम्हारा ही काम है।

प्र०

प्रसाद, २६-६-५९

शुभाशीर्वाद,

……और मिनति का कहना सही है, तुम पुरुष, स्त्रियों का मनोभाव ठीक नहीं समझ सके। उनमें आशा पर सीमा बंधना कुछ कठिन होता है साधारणतः; कुछ अधिक मिलने से 'और भी'—का रट लग जाना स्वाभाविक है हालांकि यह अनन्त अतृप्ति की चाह मनुष्य की विशेषता है—और अनिवार्य है। जब तक न—?

"बीवी खूब खुश हैं"—अच्छी बात है : बेचारी को

आराम कम ही मिलता रहा न ? जहां तक शक्ति हो तुम लोगों में वहां तक उन्हें खूब आराम देने की कोशिश करना—दोनों ओर का कल्याण है !……

प्र०

आश्रम, १०-१२-५६

शुभाशीर्वाद,

……ठीक हुआ, मां के शरीर की जांच करा ली†: एक बार Tropical में रहने के सिवाय यथोचित चिकित्सा तो कभी हुई नहीं : क्रोध होना तो स्वाभाविक ही था। अब ठीक हो रहा है।

Injection लेने में अब 'न' नहीं कहेगी—पर अपने में 'वंचित' भाव रहने के कारण अपने को मारने की प्रवृत्ति भी जग जाती है—मेरा कौन है, मुझे कौन देखने वाला, मेरे लिये दवा क्या !!—कभी हिचकिचाये तो जोर करना, डांट देना—मेरे ऊपर कोई जोर करे, मेरे लिये कोई कुछ करता है—यह इच्छा है भीतर ही भीतर : इस तरह के मन में वैसा भाव रहना स्वाभाविक है : कुछ मिला मुझे—यह बोध आ जाय तो जीवन में कुछ रस आवे।……

प्र०

आश्रम, ७-३-६०

शुभाशीर्वाद,

……और एक बात एकान्त रूप से देखो

'तोमारे जा दियेछिनु से तोमारि दान,
ग्रहण करेछो जतो ऋणी ततो करेछ आमाय।'‡

---

† चिन्मयी की मा इस समय हम लोगों के पास दिल्ली में थीं।

‡ रवीन्द्रनाथ ठाकुर के उपन्यास 'शेषेर कविता' की एक कविता का अंश, जिस पर मैंने दिल्ली में स्वामी जी के आने पर उनसे बात की थी।

—एते आपातत: दृष्टिते विरोध वोध हय:

तोमार दान तोमाय दियेछि :

तुम्हारा दान तुम्हें दिया :

'ग्रहण करे'—ग्रहण कर—तो ऋणी होता है, ऋणी तो करता नहीं :—तव ?

क्षुद्र संकीर्ण खण्ड व्यक्तिसत्ता अपनी क्षुद्रता में जकड़ी हुई है : चूसना, लेना उसका स्वरूप ही है, वह लेता है वल्कि लेने की धारा में वह वहता है, उससे लिया-जाना होता रहता है, वह है passive कर्ता, अवश, being carried away : उसके लिये रस, आकर्षण सव कुछ ही केन्द्रित अपनी क्षुद्रता में; उसके लिये और कुछ नहीं है—अगर है तो सिर्फ उसके लिये ही, वह और कुछ नहीं जानता : 'देना' उसके लिये निरर्थक शव्द है।

—अपनापन क्षुद्र अपने में—

लेकिन जव उसे यह अनुभव होता है कि वाहर की और एक व्यक्ति-सत्ता उसे देता है, सिर्फ देता है, मांगता कुछ नहीं,—देने में ही उसकी सहजता, जिसके लिये वह अपने को कुर्वानी करता है, जिसके लिये वह तकलीफ उठाता है, देने में ही जिसका आनन्द है, मानों वह अपने से ही खेल कर रहा है—तव वह व्यक्तिसत्ता चौंक उठता है, वह अभिभूत हो जाता है, मानों वह अपनी क्षुद्रता को पार कर जाता है,—तव वह यह अनुभव करता है कि देना भी है, उसे मिला, वह भर गया, वह भी देनेवाले के साथ अपनापन अनुभव करने लगता है—वह देने में अपने को सार्थक पाता है; उसे मिला, तव ही उसने दिया। और वह जो कुछ देता है, मानों वह अपने को मिला हुआ को ही देता है, देकर ही अपने को ऋणमुक्त करता है—

देना सार्थक है लेने में। जिस मुक्त हृदय से दिया—अगर उसी तरह मुक्त हृदय से दूसरे ने लिया,—तो देने का सम्मान होता है, आदर होता है, वह भर जाता है—उछल पड़ता है, मानों अपने अन्दर की भरापन के वोझ से वह मुक्त होता है,—उसे मौका मिलता है देने के लिये! ज्यों ज्यों लेने वाला लेता है त्यों त्यों देने वाले की क्षुद्रता का नाश होता है, उसका हृदय

समृद्ध होता जाता है, भरता जाता है, उसकी क्षुद्रता के स्थान पर परिपूर्णता का उदय होता रहता है, उसे मिलना है, वह ऋणी होता है :—

ग्रहण करेछ जतो ऋणी ततो करेछ आमाय।
—अपनापन दूसरों के साथ अपने में—

प्र०

प्रसाद, २३-६-६०

शुभाशीर्वाद,

...... "मिनति का कायापलट हो रहा है"—अच्छी बात है। इस बार जो सुअवसर उसे मिला, उसकी प्राप्ति और उसकी चोट को अगर वह अपना ले सके तो उसका जीवन धन्य हो जायगा।

स्वामी जी के पास आना और रहना—दोनों में भेद है न ? इस भेद को स्वामी जी ने ही तुम लोगों के प्रति अपनी कमजोरी (!) के कारण कायम नहीं रखा था—अब समय आ गया जबकि स्वामी जी के शरीर की शक्ति की हालत को देखते हुए उस पर नजर देना है न ? व्यक्तित्व के बंधन कुछ हद तक ढीला होने पर ही तो स्वामी जी के पास आना न ? सो बाहर से आकर एक-आध घंटे लेना—पर पास रहने के लिये इस व्यक्तित्व का बंधन काफी ढीला होना चाहिए न जिससे अपने सारे काम करने का आधार हो दूसरा—अपना 'अच्छा-लगना' नहीं। मिनति को किस तरह, पक्षी-माता के अपने बच्चे को अपने पक्षपुट के अंदर ढक कर रखने के समान, स्वामी जी ने रखा—→ स्वामी जी का ही एक हिस्सा!!—ज्यादह चोट उसे न लगे उसके नर्म दिल को देखते हुए, कभी उसे काम में भी प्रेरित करते, साथ ही साथ उसे बचाते उसे प्यार से भरते ताकि उसमें काम करने की प्रेरणा आवे—यह सब वह याद कर सके तब उसका दिल-दिमाग सत्य में आवे—और कुछ हद तक ऐसा हो जाने के बाद ही, दूसरों के लिये करने में अपनापन कुछ सहज हो, तब ही न यहां रहना ? अब तो अपनी

—एते आपाततः दृष्टिते विरोध वोध हयः

तोमार दान तोमाय दियेछि :

तुम्हारा दान तुम्हें दिया :

'ग्रहण करे'—ग्रहण कर—तो ऋणी होता है, ऋणी तो करता नहीं :—तब ?

क्षुद्र संकीर्ण खण्ड व्यक्तिसत्ता अपनी क्षुद्रता में जकड़ी हुई है : चूसना, लेना उसका स्वरूप ही है, **वह लेता है वल्कि** लेने की धारा में वह बहता है, उससे **लिया-जाना** होता रहता है, वह है passive कर्ता, अवश, being carried away : उसके लिये रस, आकर्षण सब कुछ ही केन्द्रित अपनी क्षुद्रता में; उसके लिये और कुछ नहीं है—अगर है तो सिर्फ उसके लिये ही, वह और कुछ नहीं जानता : 'देना' उसके लिये निरर्थक शब्द है ।

—अपनापन क्षुद्र अपने में—

लेकिन जब उसे यह अनुभव होता है कि वाहर की और एक व्यक्ति-सत्ता उसे देता है, सिर्फ देता है, मांगता कुछ नहीं,—देने में ही उसकी सहजता, जिसके लिये वह अपने को कुर्बानी करता है, जिसके लिये वह तकलीफ उठाता है, देने में ही जिसका आनन्द है, मानों वह अपने से ही खेल कर रहा है—तब वह व्यक्तिसत्ता चौंक उठता है, वह अभिभूत हो जाता है, मानों वह अपनी क्षुद्रता को पार कर जाता है,—तब वह यह अनुभव करता है कि देना भी है, **उसे मिला,** वह भर गया, वह भी देनेवाले के साथ अपनापन अनुभव करने लगता है—वह देने में अपने को सार्थक पाता है; उसे **मिला,** तब ही उसने **दिया**। और वह जो कुछ देता है, मानों वह अपने को **मिला** हुआ को ही देता है, देकर ही अपने को ऋणमुक्त करता है—

देना सार्थक है लेने में। जिस मुक्त हृदय से दिया—अगर उसी तरह मुक्त हृदय से दूसरे ने लिया,—तो देने का सम्मान होता है, आदर होता है, वह भर जाता है—उछल पड़ता है, मानों अपने अन्दर की भरापन के वोझ से वह मुक्त होता है,—उसे मौका मिलता है देने के लिये ! ज्यों ज्यों लेने वाला लेता है त्यों त्यों देने वाले की क्षुद्रता का नाश होता है, उसका हृदय

समृद्ध होता जाता है, भरता जाता है, उसकी क्षुद्रता के स्थान पर परिपूर्णता का उदय होता रहता है, उसे मिलना है, वह ऋणी होता है —

ग्रहण करेछ जतो ऋणी ततो करेछ आमाय।
—अपनापन दूसरों के साथ अपने मे—

प्र०

प्रसाद, २३-६-६०

शुभाशीर्वाद,

...... "मिनति का कायापलट हो रहा है"—अच्छी बात है। इस बार जो सुअवसर उसे मिला, उसकी प्राप्ति और उसकी चोट को अगर वह अपना ले सके तो उसका जीवन धन्य हो जायगा।

स्वामी जी के पास आना और रहना—दोनों में भेद है न ? इस भेद को स्वामी जी ने ही तुम लोगों के प्रति अपनी कमजोरी (!) के कारण कायम नही रखा था—अब समय आ गया जबकि स्वामी जी के शरीर की शक्ति की हालत को देखते हुए उस पर नजर देना है न ? व्यक्तित्व के बधन कुछ हद तक ढीला होने पर ही तो स्वामी जी के पास आना न ? सो बाहर से आकर एक-आध घंटे लेना—पर पास रहने के लिये इस व्यक्तित्व का बंधन काफी ढीला होना चाहिए न जिससे अपने सारे काम करने का आधार हो दूसरा—अपना 'अच्छा-लगना' नहीं। मिनति को किस तरह, पक्षी-माता के अपने बच्चे को अपने पक्षपुट के अंदर ढक कर रखने के समान, स्वामी जी ने रखा—, स्वामी जी का ही एक हिस्सा!!—ज्यादह चोट उसे न लगे उसके नर्म दिल को देखते हुए, कभी उसे काम में भी प्रेरित करते, साथ ही साथ उसे बचाते उसे प्यार से भरते ताकि उसमें काम करने की प्रेरणा आवे—यह सब वह याद कर सके तब उसका दिल-दिमाग सत्य मे आवे और कुछ हद तक ऐसा हो जाने के बाद ही, दूसरों के लिये करने में अपनापन कुछ सहज हो, तब ही न यहां रहना ? अब तो अपनी

शक्ति पर निर्भर कर सकता है न ?

प्र०

प्रसाद, २३-९-६१

शुभाशीर्वाद,

······ल—— के शैशव और बाल्य के अतृप्त स्नेह-प्यार-attention का भाव मौजूद है—और इसलिये अपने को खोया-खोया और 'मैं-कुछ-नहीं' का भाव भीतर-ही भीतर जमा है—इसे खयाल कर बात करना। उसे कोई 'छोटा' देख रहा है—इस भाव का इशारा भी हो तो उसे बहुत तकलीफ़ होती है—'मैं कुछ नहीं समझ पाता हूं'—यह भाव भी है। इसे न चोट लगे।······

र —— के लिए :—एक बात उसके दिल में जमा देना है कि प्यार—attention, understanding दूसरों से वह आशा करेगी तो उसे देना होगा पहले—देने से ही पाने का अधिकार होता है। न देने से कुछ नहीं मिलेगा—यह उसको स्पष्ट होना है—अब बड़ी हुई।

प्र०

आश्रम, २९-१२-६१

शुभाशीर्वाद,

······र —— को अपना पथ ठीक कर लेना है···। सबों को काट कर स्वामी जी नहीं, सबों से मिल कर, सबों को अपना कर, सबों से cooperation रख कर ही 'स्वामीजी' मिलना है।··· उसको यही अनुभव करना है कि Independence का अर्थ है conscious, heartfelt, enlightened dependence—दूसरों के terms पर।······

अवश्य ही देने-लेने में व्यवहार। "आशा बढ़ाने" के पहले से ही तुम दोनों पर अपनापन है, कुछ पकड़ने के लिये चाहिये जो। आशा-आशा—, इसलिये न मिलने पर चोट।······

प्र०

आश्रम, १८-४-६५

शुभाशीर्वाद,

......उसके अन्दर जो आत्म प्रत्यय, self confidence की भूख है वह self diffidence की प्रतिक्रिया रही, उस प्रतिक्रिया को 'positive' मानने की जो चेष्टा रही उसे धीरे-धीरे, कभी चोट मार कर, ठोक बजा कर उसके negative रूप को नष्ट कर positive self-confidence, self-dependence में रूपान्तरित करना यही काम रहा।......

तुम्हारा बाहर जाना मिनति के साथ—प्रयोजन है, सब और क्या कहना ! यहां मा का consideration प्रधानतम है। 'अच्छा लगना' छोड़ कर भी प्रयोजन प्रयोजन में अन्तर है, जो न समझे उनके लिये कोई हिचक नहीं होना है। इसके लिये तुम्हारे दिल में दुविधा की कोई जरूरत ही नहीं है। इत्मिनान कर चले जाओ।......

मा

आश्रम [illegible]

शुभाशीर्वाद,

......र —— की मानसिक स्थिति कैसी है "मैं कुछ नहीं कर सकती" आदि—इसे देखते हुए अभी ऐसा कोई काम न हो जिसमें सफलता की संभावना ज्यादहतर [illegible] हो और जिसमें कुछ ज्यादह परिश्रम करते रहने की जरूरत हो। Nothing succeeds like success, nothing fails like failure'- इस भाव को याद रख कर failure की संभावना कम और success की संभावना अधिक हो ऐसे काम में ही लगाना ठीक है।

अभी तक उसका मन diffidence की ओर है over confidence के बाद। इसी को धीरे-धीरे बनाना है—with sympathetically, understandingly encouraging attitude रख कर—जिस प्रकार मिनति के साथ चलने के लिये किया गया था।......

मा

आश्रम, ३०-११-६२

शुभाशीर्वाद,

......सबसे बड़ी बात है—तुम्हारे "अपने मन के ऊपर जो बोझ है"। क्यों यह बोझ ? क—— के व्यवहार की कड़वी घूंट ? फिर उस सिलसिले में क्या करना है—यही न ? 'करना' तो बाद को, पहले उस 'कड़वी घूंट' से छुटकारा मिले ! "मन के ऊपर का बोझ" तो पहले उतर जाय ! कड़वी घूंट=निराशा=अपनी आशा से विपरीत क—— ने किया ! क—— के साथ अपनी Identity से विपरीत फल हुआ ! तब ?—हां हुआ ! होना स्वाभाविक था, अनिवार्य था। क—— तुम से भिन्न है :—अब इस चोट से तुम्हारी अपनी Identity छूट जाय ! सत्य की प्रतिष्ठा हो जाय ! इस से बढ़कर और खुशी की क्या बात हो सकती ? Negative को भी भोगना है; पूरा भोग लो—छूट जाओ। Negative is as real as the Positive; तब दूसरों से आशा ? 'कुछ नहीं'—या 'सब कुछ ही' ! कौन क्या कर सकता—इसका ठिकाना नहीं,—सब कुछ कर सकता !! Ever ready to accept what comes—no basis for discrimination and judgement : Illusion ! दिल स्वस्थ हो जाय—जितना न कर तुम रह नहीं सकते थे—उतना किया, उसकी जिम्मेदारी तुम्हारी—दूसरों की नहीं !! क्या नहीं किया था ?......

अब करना क्या है ? सामना करो—face facts. "क—— के हित में मेरे लिये कुछ भी करना संभव है ?"—नहीं। दिल्ली में तो तुमको कहा था—वह मोह की मूर्त्ति है—'लेना' के सिवाय 'देना' जानता ही नहीं।—प० प० —— भी प्राय: वैसा ही है। इन लोगों के साथ काम करने में, अगर करना हो तो हमेशा सचेत रहना है। उनके स्वार्थ के विपरीत हो रहा है—यह सन्देह होने पर वे लोग सब कुछ कर सकते। हो सके तो ऐसे लोगों के साथ व्यावहारिक सम्बन्ध जितना कम हो उतना ही अच्छा। और व्यवहार में उनके स्वार्थ की पूर्ति हो रही है या होने की संभावना है—यह दिखाते हुए strict रहना है, कभी इनके सामने नर्म नहीं होना—but not severe ! इनमें अगर कुछ वृद्धि हो—जैसा

कि क —— में, प० प० —— में कम—तो वे लोग सब कुछ कर सकते—नही तो स्वार्थ की हानि की सभावना के सामने दबे रहेंगे—जैसा प० प० ——। क —— के साथ जाने से उसकी स्वार्थपुष्टि नहीं है—तुम्हारे साथ रहने में है—वह दिल्ली आये थे तुम्हारे ही कारण, उसके पहले उसकी हालत कैसी रही,—यह सब याद दिलाते रहना है—नहीं तो भूल जाते है वे लोग। क —— के साथ नही तुम्हारे साथ उसका obligation है—यह दिखाना है।

यह dysentery विचित्र चीज है—मानसिक प्रभाव इस पर बहुत है—भाव दब जाने से इस रोग में वृद्धि होती है—सावधान रहना।

'हुआ,'—'हो रहा है'—बस, accept what is,—CHANGE—

प्र०

आश्रम, १३-३-६३

शुभाशीर्वाद,

……भय? Emotionally : भय तो negative emotion; भय=कुछ होगा 'अप्रिय'= Inviting : the result of the need for punishment=result of a **sense of guilt**=sense of inferiority=छोटा भाव !! Helplessness.

Intellectually भय as an emotion is the result of misconception=असत्यदर्शन=वस्तुस्थिति जो है वैसा न देखकर दूसरा कुछ सोचना (२) भय हमेशा भविष्य में—क्या होगा !!

In action : जहा भय है,—चूकि वह असत्य है—नहीं है—भविष्य में है—अभी नहीं है—तब? अभी है क्या—इसे देखने का—सामना करने का प्रयास! क्या भूल देख रहा

(२) फिर घटेगा—भय ! वह तो भविष्य में—अभी तो हुआ नहीं—तब जो है नहीं उसके लिये अभी भय ?—जो तरकारी अभी बनी नहीं, कल बनेगी—उसके तीती होने का भय आज ? जिस सुन्दरी को देखा ही नहीं, उसके प्रति आकर्षण ? c. f.—भूत का भय ! गाछ के डाल को डाल न देख कर भूत का हाथ सोचना :

तब ? भय का अस्तित्व है न-देखने के ऊपर,—सोचने के ऊपर ! देखते ही वह गायब हो जाता है; छिपे रहने से ही उसकी हस्ती ! "लगता है कि वह जकड़ ढीली पड़ी है—क्योंकि सामने आई है।" यह सामने आना—देखने-जानने में आना—सोचने की आड़ में नहीं रहना।

सामना करना, देखना है—सोचना नहीं ! ! वर्तमान में,—जो है उसी में रहना,—भविष्य को वर्तमान में लाना ? असत्य, विडम्बना है ! !

—इसके साथ भय का particular आश्रय—unconscious—देखना; और उसे सामने लाना :

फिर 'व्यक्ति'—मैं ! ! 'मैं' कोई ठोस entity नहीं है—परिवर्तन की धारा है; अब तक कितने रूप हुए उस 'मैं' के ! ! 'मैं'—वह रहा है—एक ही स्थिति में नहीं है—तब ? जो हो रहा है—जो होगा—वही सत्य है—किसी एक स्थिति को या अपने मन के अनुकूल चाहना, सोचना असत्य है !

'मैं'—Ego—नहीं है—**Entity** नहीं है। A change है। 'होना है'—हो-रहा-है—यही सत्य है ! !

फिर 'मैं' अलग सत्ता=दूसरों से comparison; नहीं, मेरा जो है सो है—

आश्रम, २७-३-६३

शुभाशीर्वाद,

……(१) "मेरा 'मैं' yield करते हुए भी छोटापन महसूस नहीं कर रहा था।" छोटापन की अन्दर की ग्रन्थि तब ढीली हो रही है। "व्यवहार में उसे मान देकर चला"—ठीक, पर क्या देखा—वह भी उसे ठीक-ठीक ले सकी? तुम्हें भी उसने मान दिया? वह सब तौल सकी?

(२) "स्थूल रूप से करने का बोझ"--अपने को अस्वीकार करने का फल है। "क्यों न अच्छी तरह रहा जाय"—यह भाव तुम्हारे अन्दर है—पर Idealism आ कर बोझ बन जाता रहा। इसे तो प्रसाद में और इस बार यहां पर भी साफ किया गया था।—तुम तुम हो—no comparison—सब भिन्न है, जो जो है—सब unique है !! सब अपने में है ! सोचना नहीं है—देखना है। हां, "अपने 'मैं' को देखते हुए, उसे स्वस्थ रूप में तृप्त करते हुए ही कुछ करना है, इसमें सन्देह नहीं।" ठीक है—और "जो कुछ मैं करना चाहता हूं वह न करूं"—यह बात आती ही नहीं। बस, वही—"चाहता हूं" और "करता हूं"—न कि "करना चाहिए" और "करना पड़ता है" !! पहले में आनन्द और दूसरे में बोझ !! पहले में सहज क्रिया और दूसरे में—जिम्मेवारी की विडम्बना !! बस, इतना ही अन्तर है। 'करना' है न कि 'करना-पड़ता-है' !!—Formula—सूत्र—यह है—'करूं' या 'न करूं' !! Either positive or negative, nothing in-between—सब मेरा है !……

प्र०

प्रसाद, १७-८-६३

शुभाशीर्वाद,

मूलीभूत तत्व एक ही है—,
सिर्फ 'मैं' नहीं,—वह भी है,

और व्यवहार करते समय—

वह वही है—

'मुझे' सिर्फ यही देखना है कि कहां तक 'मैं' 'उसके' साथ adjust कर सकूं !! 'उसके' व्यवहार को judge करने का 'मेरा' कोई अधिकार नहीं—

'मैं' मैं हूं—और वह वह है !!

और 'दूसरा तत्व'—वह वह है—अभी—फिर लेकिन दूसरे समय दूसरा होगा—पहले का अभी नहीं—क्योंकि 'तब' तो 'अब' नहीं—इसलिये 'तब' का कभी 'अब' का नहीं हो सकता—अभी जो है—अभी उसी को ही देखना है, पहले के साथ तुलना नहीं करना है। क्योंकि पहले-का तो अब-का नहीं है।

Judge करने का अधिकार ही नहीं है,—और स्थिर—stable—unchangeable सोचने का भी नहीं !!......

प्र०

प्रसाद, १७-६-६४

शुभाशीर्वाद.

......तुम्हारा 'challenge-स्वीकार'—सहज हो जाय, प्रिय हो जाय, अपना हो जाय। "संकीर्ण स्व" कितने सूक्ष्म रूप से प्रियता को justify करना चाहता है—यह देखने की बात है।—"दूर का, व्यापक का निमंत्रण आ गया, जिसे स्वीकार किये बिना अब गति नहीं रही।......अभी भी कदम डगमगाएं भले ही, पर दिशा स्पष्ट है, वह प्रिय है, वही सत्य है!"—यही सहज होता चले।

और reaction? वह तो आखिर तक का सहचर है—क्योंकि जब तक द्वैत का, विरोध का, संघर्ष का, जरा सा शेष भी रहेगा, वहां तक reaction काम करेगा—सिर्फ उसका जोर घटता रहेगा: चलने के रास्ते में वह reaction ही दिखाता है—पथिक की स्थिति कैसी है: **reaction** है—यह जानना है: उसे भी स्वीकार करना है—चूंकि वह है: सिर्फ उसका over-emphasis or intensity और duration कितनी देर

स्थिति के सत्य को दिखाने वाले
—और अन्त में वही स्थिर अचंचल
!
लेते हुए बुद्धि द्वारा सम्यक् रूप से
ते हुए चल रहा हूं"—यही है स्वीकार

नुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है—
ी है अपनाने का symbol !……

प्र०

आश्रम, ३-१-६६

……फिर तुम्हारी Personal और Impersonal की बात—'Personal' जब भर जाता है तब वह अपनी सीमा को पार कर Impersonal हो जाता है—स्वाभाविक सहज परिणति है ! क्यों नही होता साधारण रूप से ?—Personal के प्रवाह में बह जाने के कारण लोग उसके चपेटों मे दोनों ओर हिलता रहता है। जब उसे देखा जाय तब उसकी अनिवार्यता उसकी अनन्यता उसकी uniqueness प्रतिभात होती है,—तब विशेष से अविशेष, particular से general, personal से impersonal—सिर्फ यही है—fact ! और इसलिये ही—वही, प्रत्येक इन्द्रिय से ग्रहण करना है—जिससे कुछ भी सन्देह, कुछ भी दूसरा कुछ की गुंजाइश न रह जाय,—इसका नाम है 'तन्मयता'=तत्+मयता—वही-हो-जाना,—वहा पर दुसरा-कुछ करने वाला क्षुद्र संकीर्ण 'मैं' का स्थान ही नही रह जाता—वही है !!—मिनति की भाषा में, 'my limitations' हवा हो जाता है !!—एक बार जब यह impersonal, यह fact, यह सत्य आया तब उसे फिर-फिर देखना है—और यही—प्रत्येक इन्द्रिय से—मन का फितूर कहां रहेगा !! देखो, देखो, देखो।

प्र०

लालपुर, रांची, ३-७-४२

शुभाशीर्वाद,

······तुम्हारी यह बात एकदम ठीक है कि "जो भाग्य में वदा होता है, अंत में वही होता है"। हृदय में यह भाव जरूर दृढ़ रखना—यह भाव दृढ़ रहे तो जीवन में जब जैसी भी घटना क्यों न हो,—सुख या दु:ख, सम्पद या विपद, सौभाग्य या दुर्भाग्य—उससे हृदय में परेशानी या कष्ट, शोक, घृणा, भय आदि नहीं आ सकते। जो-है-सो है, जो-हुआ-सो-हुआ, जो-होगा-सो-होगा। हृदय में यह भाव रहे तो जीवन में शक्ति, आनन्द, उत्साह, शान्ति सब कुछ अटूट रहती है। पर व्यवहार में कैसे चलना ? बुद्धि है, विना हिसाव या विचार से कुछ भी काम नहीं किया जाता है और न करना चाहिए। प्रयत्न के विना एक पैर भी कोई आगे नहीं चलता।

भाग्य में क्या है पहले से ही तो मालूम नहीं रहता ! विना सोचे तो एक भी काम नहीं करती हो—सब काम करते हुए पहले सोच ही लेती हो न ? प्रयत्न ही करती हो। "जो भाग्य में वदा है वही होगा" सोच कर किताबों को बन्द कर बैठे रहने से परीक्षा में नम्बर आ जाएगा,—और उन्हीं किताबों का ज्ञान हो जायगा क्या ? चूल्हा पर वर्तन रखकर चावल, आटा, लकड़ी आदि रख देने से ही क्या खाना पक जायगा ? या भूख लगने पर पड़े रहने से आप से आप खाना मुंह के भीतर घुस जायगा ? मुंह को तो खोलना पड़ेगा, चवाना भी तो पड़ेगा ? इन सव कामों में देखो—प्रयत्न ही प्रयत्न है न ? तव "प्रयत्न" ही है क्या ? अव ये "प्रयत्न" और "भाग्य"—इन दोनों में कौन सच है ? दोनों ही सच, या तो कहो दोनों को मिला कर ही सत्य है, दोनों अलग नहीं है। कैसे ? जब तक काम करना है, काम करना अभी बाकी है, तब तक अपनी बुद्धि से सारी परिस्थिति को देखकर, विचार कर काम करना चाहिए—एक बार काम हो जाने के बाद जो फल हो उसे मान लेना चाहिए—

यदि अनुकूल फल न हुआ तो क्यों नहीं हुआ, उसके कारण को ढूंढ़ना चाहिए जिससे भविष्य में फिर वैसा न होने पावे! पर जब जो फल होता है—उसके लिए दु.ख-परेशानी आदि न होना चाहिए—तब सोचना चाहिए कि जो भाग्य में था वैसा हुआ। तब देखो "प्रयत्न" और "भाग्य" दोनों मे कोई भेद नहीं है। जैसा भाग्य रहता है वैसा प्रयत्न होता है, जैसा प्रयत्न होता है भाग्य भी वैसा बनता जाता है।

अब दूसरी बात। हा, आत्मसम्मान, आत्मगौरव या इज्जत को कायम रखना ही मनुष्य का, खास कर स्त्रियों का, पहला कर्तव्य है। ससार में सुख-दु ख, जय-पराजय, झगड़ा-खून आदि जितने होते है उन सबों के जड़ मे रहता है स्त्री-पुरुष का संबंध। पुरुष और स्त्री के बीच जो आकर्षण है—उसका नाम यौन आकर्षण—क्यों ? स्त्री और पुरुष मे बाहर से तो कोई और दूसरा भेद अंगों में नही है सिवाय इसके कि पुरुष मे लिंग और स्त्री में योनि है। इसलिए इस आकर्षण को "योनि" से "यौन"-आकर्षण कहा जाता है। प्रकृति के राज्य में पेड़ पौधे, पशु पक्षी, कीड़े मकोड़े और मनुष्य सब जगह यह स्त्री-पुरुष भेद है—मूल में स्त्री पुरुष है। तब देखो— स्त्री-पुरुष मे इस भेद के कारण दोनों मे आपस मे मिलने की प्रवृत्ति या आकर्षण एक प्राकृतिक या स्वाभाविक बात है। मनुष्य छोड़कर और दूसरे प्राणियो मे इस आकर्षण के लिए कोई रुकावट नहीं है—आप से आप जब जरूरत होती है समय आने पर वैसा ही आकर्षण दोनो मे होता है। किन्तु मनुष्य में बुद्धि है, मनुष्य (समाज) समाज गढ़ता है, सभ्यता-संस्कृति, आदि वस्तुओं की सृष्टि करता है – जब जो चाहे मनुष्य वैसा ही तब नहीं कर सकता —उसके लिए नियम, संयम, कानून की जरूरत पड़ती है। स्त्री-पुरुषों में जो स्वाभाविक यौन आकर्षण है उसी को नियमबद्ध कर उससे जीवन में सुख-आनन्द-शक्ति-शान्ति पैदा करने के लिए ही विवाह है! विवाह के बाद एक स्त्री एक पुरुष को और एक पुरुष एक स्त्री को अपना समझ कर जीवन में स्थिरता, निश्चिन्तता का अनुभव करते हैं। इसी में अपनापन है, इसलिए इस प्रकार के संबंध में आत्मसम्मान, आत्मगौरव या इज्जत है—इसके अलावा स्त्री-

पुरुषों में आकर्षण या व्यवहार में है आत्मग्लानि, आत्म-अपमान, नीचता। जो अपना उत्तरदायित्व नहीं समझते वे ही अपने को असामाजिक आकर्षण में फंसने देते हैं। पुरुष बड़े ही स्वार्थपर हैं, स्त्रियों पर अत्याचार ही करते हैं—मानो सब दुर्नाम, सब ग्लानि का बोझ है स्त्री पर। इसलिए खूब सावधान रहते हुए लड़के और पुरुषों के साथ वर्ताव करना—इसमें आत्मीय-कुटुम्बों को भी शामिल कर लेना। हां, "किसी को तुम्हारे सामने फटकने न दो"।

अवश्य ही विवाह में लड़कियों का बड़ा झमेला है—एक अपरिचित परिस्थिति में अपने को बदल देना पड़ता है। पर पहले घबड़ाहट होती है जरूर,--किन्तु यह एक स्वाभाविक सामाजिक कृत्य होने के कारण जल्द ही घबड़ाहट दूर हो जाती--; कोई चिन्ता नहीं है। "जो-होगा-सो-होगा",—चिन्ता, घबड़ाहट किसलिए ?......

प्रज्ञानपाद

Lalpur, Ranchi, २०-७-४२

शुभाशीर्वाद,

हां, प्रयत्न पूरा करना, उसमें कमी न रखना, फिर भाग्य पर छोड़ना।

जो बात नहीं जानती हो, उसको करने में ही घबड़ाहट होती है; जिस बात के बारे में तुम्हारी जानकारी है, उसको करने में घबड़ाहट नहीं होती। जैसे, मां तुमको "इधर-उधर जाने से मना करती थी तथा किसी से बात करने को भी मना करती थी"—इससे तुमको घबड़ाहट होती थी क्योंकि उस समय नहीं समझती थी कि उसका कारण क्या था,—अब समझ गई, इसलिए घबड़ाहट नहीं है। इसी भांति हर बात में ही जहां जानकारी नहीं है, वहां पर घबड़ाहट ! इस घबड़ाहट—कष्ट, दुःख, नाराजगी, चिड़चिड़ापन आदि आदि—को दूर करने का एकमात्र उपाय है सब बातों को जानना। जानने में कुछ भी दोष, शर्म, लज्जा, संकोच आदि का भाव नहीं रखना चाहिए—ज्ञान के समान पवित्र और कुछ भी

नहीं है—देखो जलती हुई आग में अच्छा से अच्छा और बुरा से बुरा जो भी कुछ डाल दो, आग के सामने सब कुछ समान है, सभी को वह जला देती है। उसी प्रकार ज्ञान के सामने सब समान है, किसी भी बात को ही बुरा, खराब मानकर जानने में हिचक नही रखनी चाहिए। जब जो भी बात हो निःसंकोच पूछा करो, लिखा करो, स्वामी जी से सब बातों का ठीक ठीक उत्तर जान लो, जीवन में दु.ख नहीं रहेगा।

विवाह-प्रथा क्यों हुई ? पुरुष और स्त्री के बीच के इस स्वाभाविक आकर्षण को नियम में बंधने के लिए ही विवाह है। नहीं तो संसार में कितना मार-काट, झगड़ा-फसाद होता ? फिर रही स्त्री-पुरुष के आपस के साधारण व्यवहार की बात। इसमे जहा का समाज जैसा है—वहां नियम भी वैसे हैं,—यहां पर स्त्री-पुरुष के आपस के कुछ भी संबंध को समाज बर्दास्त नहीं करता,—इसलिए आपस में मिलना नही होता—पश्चिम में काफी स्वतंत्रता है। इस देश में भी बंगाल में, गुजरात, महाराष्ट्र में काफी स्वतंत्रता है,—और फिर रूस में तो स्त्री-पुरुष का सम्पूर्ण समान अधिकार है। जिस समाज में रहना पड़ता है, जब तक वहां का परिवर्तन न हो,—परिवर्तन के लिए जरूर ही अपनी शक्ति और परिस्थिति के मुताबिक प्रयत्न करना चाहिए—तब तक उसी के अनुसार चलना चाहिए।

विवाह में दो पक्ष हैं—एक पति और दूसरा पत्नी—जब दो आदमी एक साथ जीवन को बांधते है,--और जब दो भिन्न, अलग हैं ही, शरीर में भी और मन में भी कभी दो एक नही हो सकते, अन्तर तो है ही और रहेगा भी क्योकि यही नियम है,—सब भिन्न है, दो चीज संसार में बराबर नही है—तब आपस मे पहले ही तै करना चाहिए और दृढ़ निश्चय करना चाहिए कि जहां तक हो सके पति पत्नी के लिये और पत्नी पति के लिये अपनी अपनी रुचि और रायों को छोड़ें। एक दूसरे के मन के अनुसार चलने की कोशिश करे; तभी जीवन सुखमय, आनन्दमय, शान्ति-मय हो सकता है। अपना मत पूरा रखना और दूसरों के साथ रहना—यह तो गलत बात है। यदि पूरा अपना रखना हो तो

अकेला रहना चाहिए—जो कि असंभव है।

मां का हृदय कोमल है, इसलिए दुःख हो जाता है; पर जो नियम है उसके विपरीत सोचने से दुःख ही दुःख होता है। जैसे, तुम सोचती हो मां-बाप को छोड़ कर कैसे दूसरे के घर में जाऊंगी! पर भूल जाती हो,—सब लड़की ने ऐसा किया न? तुम्हारी मां ने क्या किया? उसी तरह संसार का नियम है--

(१) सब कुछ बदलनेवाला हैं, सब अस्थिर हैं, उदय के साथ अस्त, जन्म के साथ मृत्यु, दुःख के साथ सुख, संयोग के साथ वियोग—लगा हुआ है। उदय हुआ, अस्त नहीं होगा, जो आया वह जायगा नहीं, जो जनमता है वह मरेगा नहीं, ऐसा कभी हुआ न होगा! तब किसी के जाने से, मरने से दुःख क्यों?

(२) सब कुछ भिन्न हैं, दो चीज कभी समान नहीं हैं, देखो परीक्षा करके। दो शरीर एक नहीं हैं, दो मन एक नहीं हैं—फिर दूसरा तुम्हारे मन के अनुसार काम करे यह सोचना नियम के प्रतिकूल है। नियम नियम है, जल ठण्डा है, आग गर्म है—आग को ठण्डा मानकर उसके अन्दर हाथ डालने से क्या होगा? हाथ जलेगा ही; उसी प्रकार प्रकृति के नियम के खिलाफ सोचने से दुःख होगा ही।

प्रज्ञानपाद

Lalpur, Ranchi, १२-८-४२

शुभाशीर्वाद,

...... "जन्म न होता तो ठीक था"—पर जब हो गया तब क्या होगा? 'न-होता" कहने से "जो-हो-गया" उसका समाधान कैसे होगा? मनुष्य का कर्तव्य है, **जो-हो-गया**, **जो-है** उसी के आधार पर ही अपना कार्यक्रम तय करना चाहिए। यही सत्य है। जो बात है नहीं उस पर विचार क्या करना? जन्म जब हो गया तब उसी जन्म का सदुपयोग कैसे किया जाए—यही देखना चाहिए न?

जन्म-मृत्यु का संबन्ध आदि बात साक्षात में तुम भली

भांति समझ जाओगी। एक बात देखो—जो कुछ भी काम तुम करती हो वह अपनी इच्छा से ही करती हो—अपनी इच्छा के खिलाफ कोई भी काम नहीं करती। जब किसी जगह से दूसरी जगह पर जाती,—तो जाना चाहती हो तो जाती, नहीं तो नहीं—यह बात तुम्हारे मन में होगी कि बहुत से काम तो अपनी इच्छा के खिलाफ भी करती! पर बात यह नहीं है! लो यह शादी की बात! तुम मानती हो या मानती थी कि तुम चाहती नहीं, फिर भी करनी पड़ती, यही न ? एक ओर न करने की इच्छा, दूसरी ओर मां-बाप को दुःख न हो यह भी चाहती हो—तुम्हारे दो इच्छाओं में लड़ाई होती है—जिसकी शक्ति ज्यादह, उसी के मुताबिक काम होता है—इस काम में मां-बाप को कष्ट न हो—तुम्हारी यह इच्छा ज्यादह है, इसलिए उसी के मुताबिक, तुम्हारी दूसरी इच्छा—शादी न करने की—के खिलाफ, काम हो गया। हुआ तुम्हारी इच्छा से ही। इसी तरह सब काम—मृत्यु तक—अपनी इच्छा से ही होती है। जो मरता है, उसे अपनी वर्तमान परिस्थिति में सन्तोष नहीं है,—उसे वह छोड़ना चाहता है—असहनीय होने से छोड़ देता है—उसी का नाम मृत्यु। मुतरां जब कोई मरता है उसके लिये शोक करना उसे दुःख देना है, क्योंकि शोक करने से तुम उसे इस संसार में तुम्हारे पास खींचोगी, पर वह यहां आना नहीं चाहता, वह दूसरी जगह जाना चाहता है, बल्कि गया है। शोक करने से उस पर दोनों ओर से खिंचाव होती रहती—बेचारा बड़े कष्ट में पड़ जाता है! जो लोग प्रेम करते हैं, जो मुहब्बत करनेवाले हों, उनके लिये यह शोभता नहीं कि उनके प्रियजन को कष्ट हो! उनके लिये हृदय में यह बात रहनी चाहिए—"जाओ, जहां तुमको सुख मिले वहां जाओ, जब हम लोगों को तुमने छोड़ ही दिया, तब जहा तुम जाना चाहते हो—जहां पर तुम्हारा आनन्द है, वहीं पर जाओ—तुम आनन्द में रहो, तुम्हारे सुख से, तुम्हारे आनन्द से ही हमारा आनन्द है! तुमको इधर खींच कर तुमको कष्ट देना हम नहीं चाहते?"

आश्रम, १४-४-४३

शुभाशीर्वाद,

……यह अभागा देश है,—अपनी "रीति-रश्म" के पशु हैं, अन्ध रूढ़ियों के शिकार हैं यहां के लोग,—चलते हैं आंखें मूंद कर आदत के वेग से—यन्त्र जैसे ! प्रयोजन का ख्याल नहीं, हृदय का आदर नहीं—सिर्फ "करना-होता-है" के पीछे अन्धा है यहां का समाज ! क्या करोगी ! जब खुद बड़ी होकर समाज को आंख दे सको, तो उसी की कोशिश करो—अभी से आंख खोलकर देखने की आदत डालो—"शुद्ध दृष्टि", साफ नजर—यही है एकमात्र उपाय अपने में शक्ति और आनन्द लाने का। बड़ी हो रही हो—साफ नजर से जो-जैसा-है-उसे-वैसा देखने की कोशिश करो। संसार में हैं "भांति भांति के लोग"—"सबसे हिलमिल चालियो,"—जो जैसा उसे वैसा देखो; अपने मन के मुताबिक सबों से आशा नहीं करो। अपने को प्रेम न करो—दूसरों को प्रेम करो,—पहले दो, फिर चाहो तो पाने की आशा करो—देने में ही जीवन में मजा है,—अटूट मजा है। खुश रहो—

प्रज्ञानपाद

प्रसाद, २०-६-४७

शुभाशीर्वाद,

संसार में काम करने के बारे में दो बातें है—"करू" और "नहीं करू" ! इन दोनों के बीच और कुछ नहीं है :—"करना पड़ता है"—गलत है ! जब जो स्थिति आवे तब देख लेना चाहिए कि चूंकि वह स्थिति जब तुम्हारे पास आयी है तब तुम्हारे कर्म के आकर्षण से ही आयी है, तत्काल यदि उसे स्वीकार करने की इच्छा न हो तो उसे छोड़ देना चाहिए—अगर छोड़ न सको, तो आनन्द के साथ उसे लेना चाहिए—यह सोच कर कि जब छोड़ नहीं सकती तब जरूर ही उसके साथ मेरा संबन्ध अभी बाकी है, वह मेरा ही, हजार कष्टदेह क्यों न हो, वह मेरा ही है ! जब मेरा ही है तब मैं लूंगा जरूर ! जीवन में शक्ति, स्थिरता और आनन्द लाने का यही

एकमात्र उपाय है !······

अपनी स्थिति को जब छोड़ नहीं सकती तब वह तुम्हारी है ही—यही धारण करो—

प्रज्ञानपाद

आश्रम, २८-१-५७

शुभाशीर्वाद,

देखो, मंइयां, दो व्यक्ति अलग हैं, दो कभी एक ही नहीं हो सकते; सुतरां दो का सब कुछ ही अलग है—यानी, प्रत्येक व्यक्ति अपने को देखे, अपनी परिस्थिति को समझे,—और उसी के अनुसार अपने को बदलते हुए जहां तक हो सके दूसरों को बदलने की चेष्टा करे। कभी अपने को दूसरों से न मिलावे ! फिर, आपबीती पर ही सहज-स्वीकार करे ! क्यों ?—

जहां आकर्षण वहां गति, जिधर आकर्षण उधर गति—तुम्हारी ओर जो कुछ आ रहा है, आया है—वह व्यक्ति हो, घटना हो, परिस्थिति हो—वह तुम्हारे पास आया, तुम्हारी ओर आकर्षण है इसलिये। यानी तुम उसे खींच रही हो,—जान कर या न जान कर ! चुम्बक के पास दूर से लोहा का टुकरा चला जाता है—बाहर से खीचाव दीख नहीं पड़ता, पर भीतर ही भीतर आकर्षण है, चुम्बक लोहे को खीचता, पितल को नहीं न ? वैसे जिसके प्रति तुम्हारा आकर्षण हो वह ही तुम्हारी ओर आता है : तब ? उसे अपना देख कर अपनाना है, स्वीकार करना है : अगर अपना नहीं हो तो उसे छोड़ देना है। जब छोड़ न सको तो, किसका है वह ? तुम्हारा है !

यही 'मेरा है' कहने के बिना, उसे अपनाने के बिना मन में आनन्द लाने का दुसरा उपाय नहीं है, दुसरा मानने पर ही उससे विरोध, भय, घृणा, दुःख, मनस्ताप, हाय-हाय।

देखो; अपनाओ; स्वीकार करो—

सुधा वर्मा

आश्रम, १६-२-४४

शुभाशीर्वाद,

"कई असुविधाओं के कारण" तुम पत्र न लिख सकी,—यह बात कहां तक ठीक है तुम देखो ! यदि इच्छा हो,—और जरूरत मालूम होने पर ही इच्छा में जोर आता है—तो ऐसी कोई असुविधा नहीं हो सकती जिसके लिए पत्र न लिखा जा सके। है न यह बात ठीक ? सिर्फ जरूरत नहीं मालूम हुई और इस कारण इच्छा नहीं हुई।

शिक्षा दो प्रकार की है : (१) आक्षरिक शिक्षा—जो कि स्कूल-कालेज में किताबों के द्वारा मिलती है, और (२) हृदय की और बुद्धि की शिक्षा—जो वहां नहीं मिलती। दोनों की ही जरूरत है, पर दूसरे के बिना पहली शिक्षा खतरनाक हो सकती, क्योंकि पहली है एक अस्त्र और दूसरी है उस अस्त्र का सदुपयोग : कैसे ?

तुम्हारे पास एक चाकू या छूरा है : तुम उसे खूब तेज बना रही हो, लकिन उसका क्या काम है नहीं जानती : परिणाम क्या होगा ? उस तेज छूरा या चाकू से अपने अंगों को काट सकती, नाराजगी के कारण क्रोध के वश में आकर दूसरों को भी हानि पहुंचा सकती : ऐसा किस लिए हुआ ? इसलिए कि तुम जानती नहीं थी कि उसका ठीक-ठीक उपयोग क्या है।

ठीक उसी तरह तुम बहुत पढ़ ले सकती, विज्ञान भी सीख सकती, पर अगर उसके साथ ही साथ यदि तुम्हारा हृदय और बुद्धि न बढ़े, तुम्हारे मन में सत्य के प्रकाश के साथ साथ जीवन का उद्देश्य क्या है—मनुष्य जीवन का ध्येय और लक्ष्य क्या हैं और उस ओर क्यों चलना चाहिए—इस बात की शिक्षा ठीक-ठीक न हो सके तो तुम अपनी पहली शिक्षा को अपने स्वार्थ के लिए, जिससे दूसरों को कितनी हानि हो रही है और इसलिए तुम्हारी भी कितनी हानि होती है—इसे न जानकर अन्धाधुन्ध काम कर सकती, और

उस काम में तुम्हारी पहली शिक्षा तुमको और भी नीचे गिरा सकती, जैसे देखो, आज विज्ञान के आविष्कारों से क्या हो रहा है ! पहले जमाने में लोगों के एक जगह से दूसरी जगह पर जाने में बैलगाड़ी, घोड़ागाड़ी से जाना पड़ता था, कितना समय लगता था, और आज ? ट्रेन, मोटर, हवाई जहाज से कुछ दूर नहीं रह गया : तुमने रेडियो सुना तो ? विलायत की खबर उसी समय यहां पर पहुंच जाती न ?—क्या हुआ : दूर कुछ नहीं रह गया,—पैदल एक मुहल्ला से दूसरे मुहल्ला का संवाद लेने में जितना समय लगता उससे भी कम समय में १०० मील के दूर का संवाद मिल सकता, दूसरा या पराया कुछ नहीं रह गया—कहीं बाढ़ हो जाए, रेल लाइन भी टूट जाए, तब भी कोई असुविधा नहीं हो सकती—हवाई जहाजों से खबर मिल सकती, वहां पर मदद भी पहुंचाया जा सकता। लेकिन अब क्या हो रहा है लड़ाई में? विज्ञान के आविष्कारों से एक देश दूसरे देश के लोगों को किस तरह जला दे रहा है ऊपर से बम गिरा कर एक एक शहर को तोड़कर, जलाकर उसका सत्यानाश कर रहा है ? विज्ञान का पूरा ज्ञान है, पूरी शिक्षा है पर हृदय की शिक्षा नहीं हुई—अहंकार, स्वार्थभाव असभ्य जानवर के समान है, इससे कितनी हानि मनुष्यों को हो रही है।

मनशिक्षा चाहिए—और उस शिक्षा के मदद के लिए बाहरी शिक्षा की जरूरत है। तुम दोनों शिक्षाओं को प्राप्त करो यही ठीक है।

हृदय और बुद्धि की शिक्षा के लिए जो बातें तुमसे हुई वे ही है सब शिक्षा का जड़, सब शिक्षा का आधार। सत्य ही एकमात्र वस्तु है जिस पर हमेशा स्थिर-दृढ़ रहने की कोशिश करनी चाहिए उसके लिए हमेशा नीचे लिखी हुई दो बातों का अभ्यास करना चाहिए :—

(१) जिस समय जो काम करती हो,—उठना, बैठना, चलना, पढ़ना, लिखना आदि जो भी काम हो,—उस समय उसी काम पर ही मन को लगाये रखना, दूसरी कोई भी बात उस समय मन में आने नहीं देना :—कोई दूसरी बात आवे तो उसे दबाना नहीं, मन को यही कहना कि अब अभी जो काम हाथ में है उस ओर पूरा

मन न देने से वह काम पूरा नहीं होगा, और वह पूरा न होने पर मन को ही बुरा लगेगा, साथ ही साथ उसका बुरा फल भोगना पड़ेगा,—और दूसरी बात मन में आ रही है वह काम तो उस समय हो ही नहीं सकता, उस पर ध्यान को जाने देना तो फजूल ही है ! तव ? अपना लाभ किसमें है ?—इस प्रकार मन के साथ बातें करते हुए—अपना सच्चा लाभ किसमें है उसे देखना, और जिस समय जिस अवस्था, जिस स्थिति में जहां पर हो उस समय उस अवस्था में, और उसी स्थिति में वहां पर मन को पूरी तरह लगा कर काम करना। उससे काम पूरा होगा, सुन्दर होगा।

(२) आयना, शीशा किसलिए है ? शीशे को सामने न रखकर अगर बाल झाड़ोगी तो क्या सुन्दर होगा ? क्यों नहीं होगा ? देख नहीं पाती इसलिए न ? शीशा तुमको देखने के लिए मदद देती है, यही न ? तब क्या बात हुई ? देख-देख कर, जान-जान कर काम करने से काम ठीक होता है—कहीं भी गलती नहीं होती, काम सुन्दर होता। इसलिए सब काम देख देख कर, जानकर करना चाहिए, आंख, कान, हाथ-पैर आदि को हमेशा मन के साथ मिलाकर रखना,—जिस समय जो काम है पूरा ध्यान उस पर रखना। तुम्हारा शरीर मन सुन्दर होगा, तुम्हारा सारा काम सुन्दर होगा, तुम्हारी चारों ओर सुन्दरता फैलती रहेगी,—तुम्हारा जीवन शक्ति से, सुन्दरता से भर जायगा, तुम्हारे सम्पर्क में जो लोग आवेंगे वे भी [उस] शक्ति से, सुन्दरता से लाभ उठावेंगे !! ······

मन में कुछ भी न रखो,—आनन्द के साथ बेफिक्र होकर सावधानता के साथ अपना काम करती रहो—

प्रज्ञानपाद

प्रसाद, ९-१२-४६

शुभाशीर्वाद,

गंगा जी जब गंगोत्री की ऊंची स्थिति से बर्फ से पिघल कर आती है तब उसका क्या रूप है ?—निर्मल, सुन्दर पर संकीर्ण, गहराई नहीं,—मानो एक अंजली में भर लें।—फिर गंगा जी जब समुद्र

में आकर मिल जाती है उस समय उसका रूप क्या है ?—निर्मल-सुन्दर पर अनन्त-अपार, अतल, विराट। कौन सा रूप गंगा जी के लिए ग्रहणीय है ? क्षुद्र-संकीर्ण पर सुन्दर रूप या असीम-अतल-विराट सुन्दर रूप ?—यह असीम-अतल-सुन्दर शान्त रूप कैसे आया ? झरणे की स्थिति से जितना ही नीचे उतरती आयी गंगा जी, उतना ही उसमें चारो ओर का मैल जमता गया, विस्तार होता गया, गहराई बढ़ती गयी—फिर इस भांति चारो तरफ की जमीनों के अन्दर से होते हुए गंगा जी अपनी चरम अन्तिम असीम सुन्दर रूप को प्राप्त करती है—दोनों अन्त के बीच में मैल है न ?—ठीक उसी तरह मानुष शिशुकाल में सुन्दर, सरल पर संकीर्ण, ज्ञानहीन ! फिर जैसा-जैसा बड़ा होता है—अपनी चारो ओर की परिस्थिति के अंदर से आगे बढ़ता है अपनी चरम अंतिम स्थिति को प्राप्त करने के लिए ! तुम भी घबडाओगी क्यों ? यदि तुम्हारे अंदर आगे बढ़ने की प्रवृत्ति जारी रहेगी तो तुम्हारा सब अनुभव तुम्हारे जीवन को सुन्दर-समृद्ध (rich) बनायेंगे। अनुभव से कभी घबड़ाना नहीं—सिर्फ अपने को सजग रख कर चलना ही काम है। "मैं अपने को फूल ही समझ कर यह सोचो कि होने दो दूसरों को आकर्षित ! मेरा क्या ?"—ठीक है—पर "फूल को मड़ोर डालने या तोड़ लेने से बचाना" तो तुम्हारा काम है ! सबों के साथ रहते हुए भी तुम सबों से अलग रहो—जहां तक अपने को बचा सको वहां तक ही आगे बढ़ना, उसके आगे नहीं।……

"पुरुष अपनी स्त्रियों को सिर्फ वासना की वस्तु समझते हैं और फिर भी स्त्रियां उन्हें देवता के रूप में पूजती हैं"—"भारत की यह पूर्व प्रथा"—नहीं है। "सहधर्मिणी" का क्या अर्थ है फिर ? "विवाह" का क्या अर्थ है ? "विशेष रूप से वहन करना", हर तरह का भार लेना,—पूरे जीवन का भार लेना,—शरीर, मन, बुद्धि आदि सब चीजों में पति और पत्नी आपस में आगे बढ सकें इसलिए ही "विवाह" है—वासना के लिए ही वासना तो पशु का काम है, मनुष्य का नहीं।—जिस समय कौशल्या मर गयी, उस समय दशरथ का विलाप क्या था ? —मेरा सब कुछ चला गया—मेरा गुरु, मेरा शिष्य, मेरा बन्धु, मेरा मन्त्री, मेरी दासी, मेरी

मां, मेरी वहन, मेरी गणिका—कौशल्या मेरी सब कुछ थी।……

हमेशा सावधान रहना,—हमेशा जप करो—आंख खोल कर सब देखो—निर्भय रहो—अपने पथ पर दृढ़ स्थिर रह कर चलो—आगे वढ़ो—

प्रज्ञानपाद

प्रसाद, १०-१२-४६

शुभाशीर्वाद,

सामयिक तात्कालिक असुविधा से वेचैन होकर उसी से मुक्ति पाने के लिए लोग स्थिर भविष्य को खो देते हैं—उसी समय वुद्धि की जरूरत पड़ती है :—जो है उसी पर ही चलना चाहिए—"मुझे एक वड़ा भाई होता ?"—तो ? जव "वड़ा भाई" नहीं है तव वैसा प्रश्न ही तो वेकार है न ?—फिर भी, होता तो क्या होता ? कुछ मालुम है ? सव ही तो हवाई वात है न !—फिर "सुधा, छोड़ दो अव पढ़ना लिखना-आदि"—यह भी तो सामयिक उत्तेजना का फल है न ? "सव संसार है"—वदल रहा है—वीमारी आयी, फिर वह भी नहीं रहेगी। सिर्फ तुम्हारे मन के मुताविक नहीं हुआ,—यही तो है वात न ?

फिर सोना की चोरी ! सोना को मूल्यवान वस्तु समझ लेने से यही धोखा है—यदि "प्लैटिनम" चोरी जाए तव ? वह तो सोना से दस गुणा ज्यादह कीमती चीज है। यदि सोने की चोरी से घर में "आफत आती है" तो, कव? सोने की चोरी है "कारण" और आफत आना "कार्य",—इस कारण-कार्य का संयोग कव और कैसे होगा मालूम है ? सोने की चोरी के साथ ही अगर आफत आवे तो एक वात है, नहीं तो ? फिर, जहां भी सोने की चोरी हुई, संसार में वहां पर ही अगर आफत आयी हो तो—कारण-कार्य का संवंध ठीक है; पर ऐसा हुआ हमेशा ? नहीं तो डर के मारे लोग एक परिवर्तन को दूसरे परिवर्तन का कारण मान कर उटपटांग वात करते हैं,—तीसरी वात यह है कि क्या सव देश में, सव लोगों के भीतर ही यह शंका है या कुछ देश में और कुछ लोगों में ?—"दो-एक अनुभव"

पर कोई सिद्धान्त ठहर नहीं सकता। फिर चौथी बात यह है कि उसी तरह डरने से मन आफत को बुला लेता है। फिर पांचवी बात :—आफत से डर क्यों ? *तुम जैसा मनमाना चाहोगी*—अपनी स्थिति कायम रहे, सब नीरोग रहे, कुछ अशान्ति का कारण न हो,—यही न है बात ? बदलेगा नहीं, संसार में एक-सा रहेगा ? "आफत" किसे कहती हो ?—ऐसी कोई घटना, ऐसा कोई परिवर्तन जो तुम्हें पसन्द नहीं,—यही न ? "वैसा न होना चाहिए"—यही न ? संसार में परिवर्तन होगा ही,—तुम्हारे चाहने-न-चाहने से क्या फल है ? प्रज्ञान वह है जो कहता है—यह संसार है, सब बदल रहा है, जो हो रहा है उसे देखो, इस हमेशा-परिवर्तन के स्रोत को रोकने की कोशिश न करो, संयोग-वियोग, जन्म-मृत्यु, आना-जाना, सम्पद-विपद, सुख-आफत एक दूसरे के बाद आता ही है—आने दो, बाहर की घटना-धारा के ऊपर अगर तुम्हारा "वश" नहीं तो तुम्हारे अपने पर तो अपना "वश" रहे ! "जन्म-मृत्यु पायेर भृत्य चित्त भावना हीन"—जन्म-मृत्यु तो मेरे पैरों के नीचे है, चित्त मेरा दोनों को संसार के परिवर्तनों के दो अच्छेद्य मुख समझता है,—जन्म होने पर मृत्यु अनिवार्य, उदय होने से अस्त अनिवार्य है, जीवन में सुख चाहने से आफत भी अनिवार्य,—उदय चाहोगी, अस्त नहीं,—सुख चाहोगी—आफत नहीं, सामना चाहोगी पीछा नहीं,—यह कैसी बात है ? आधा चाहोगी कैसे ?

"अशान्ति से उत्पीड़ित होकर मनुष्य शान्ति की चाह से सांसारिक झमेलों को तिलांजलि दे वैरागी बनता है"—यह तो "बनना" है—"होना" नहीं। उससे विडम्बना ही है जीवन में यदि संसार के प्रति आकर्षण रह जाए। संसार में सुख चाहते है, नहीं *मिलता है,—भाग जाएं ! यह तो कायरता है !* संसार के सारे सुख-दुःख, सम्पद-आफतों से पार होकर ही वैरागी होता है। और इसी के लिए—"झंझट और बाधाओं के बीच भी रह कर यदि सत्य-पथ को देखते हम चलें तो शान्ति के भोगी हम बन (बन नहीं, "हो") सकते हैं।"—"कैसे होगा" ?—तुम्हारे लिए तो वह पथ आ गया—जप क्या करती हो ?—क्या है अर्थ, क्या है भाव ? संसार संसार है—इतना ही जानने से, कभी एक ही स्थिति की आशा न करने से,

बदले-तो-मेरे-मन-की-चाह-के-मुताबिक-ही-बदले—यह न चाहने से, बल्कि संसार के साथ अपने मन को एकांग बना देने से,—जो हो रहा है, सो हो रहा है,—उसी को स्वीकार करने से,—ऐसा-न-होता-तो-ठीक था, वैसा-होता-तो-ठीक-होता—इस भांति न सोचने से, मनुष्य "वीर" होता है !—फिर दो कुछ भी बराबर नहीं है—दो मनुष्य का भाग्य भी बराबर नहीं है।......

सत्य देखो—निर्भय रहो—

प्र०

आश्रम, २-१-४८

सुधा, शुभाशीर्वाद,

तुम्हारे अपने पत्र के स्वच्छ, सतेज, बाधाहीन और सहज भरा-भरा आत्मविश्वास के भावों से बड़ा ही आनन्द दिया तुमने ! !—अपने अनुभव की कसौटी पर सबको कसना चाहिए।—

-- सब कुछ ही योग्य समय पर होने से पूरा फल देता है ! समय के पहले होने पर विपरीत फल होता है—भूख लगने के पहले अगर अच्छे भोजन भी मिले तो शरीर पर उसका क्या प्रभाव होगा ? शरीर उसे लेगा कैसे ? पूरी भूख लगने पर शुद्ध पौष्टिक भोजन मिले तो ?—ठीक उसी तरह हृदय की भूख पक्की हो तो उसी समय योग्य खुराक मिले तो हृदय भर जाता है,—जीवन ही नया बन जाता है,—क्यों ?......

मन को साफ रखो। आगे बढ़ो—

प्रज्ञानपाद

ऊषा नारायण

प्रसाद, १५-११-५०

शुभाशीर्वाद,

····· संसार में दो व्यक्ति, दो जगह, दो घटना—सब दो ही भिन्न है,—"दो" कभी "एक" नहीं हो सकते। पर बाहर दो होते हुए भी भीतर सब एक ही हैं, जैसे, पुरुष-स्त्री, बच्चे-बूढ़े, तरुण-तरुणी—सब भांति भांति के होते हुए भी मनुष्य के हैसियत से सब एक ही हैं—बाहर जो जैसे हैं वैसे ही बरतने पर भी दिल के भीतर सबों के साथ मनुष्य के नाते एक ही "मित्र"-भाव या मैत्री रखनी चाहिए। लड़का लड़की में तो कितना भेद है न? तुम्हारी साड़ी, ब्लाउज, साया, कुर्ती आदि सब कुछ तुम्हारी चीजें हैं,—तो पर भी साया को छाती पर और ब्लाउज को नीचे तो नही पहनती हो—तुम्हारी चीजें होते हुए भी जिसका जो स्थान, जो जैसा है उसको उसी जगह पर रखती हो; मन माने जहां तहां तो नही रखती, भिन्न को भिन्न देखने में क्या दोष है? वही तो सत्य है।

इस तरह "भिन्न" किस लिये देखना? अपनी बचाव के लिये, नही तो सिर्फ अपने मनमाने आशा करने से वह आशा पूरी नही होती, हृदय में दु.ख-बेचैनी-हताशा आदि का उदय होता है: तुम्हारे वहा लड़किया हैं, देखो कितने तरह की हैं वे। जिनकी प्रकृति जैसी उसके साथ उसी भांति व्यवहार करोगी तो धोखा नही होगा, यह तो हुआ सिर्फ व्यवहार की बात; मगर दिल में सबके साथ मैत्री भाव से देखना। ··· ··

सबों से हिल मिल रहो—सबो के साथ मिलो : सिर्फ अपनी सब तरह की स्थिति के ऊपर ही खड़ी होना चाहिए।

आंखें खोल कर देख कर चलना, सिर्फ भावों के वश होने से पीछे पश्चात्ताप होता है। ··· ···

प्रसाद, १६-१२-५०

शुभाशीर्वाद,

पगली, घबड़ाती क्यों ? तुमको तो पिछले पत्र में ही लिखा था कि भांति भांति के अनुभवों की विचित्रता जिसके जीवन में जितना ज्यादह गहरी होगी, और उन अनुभवों की तीव्रता को समझ-बूझ कर अपना ले सकेगा उसका जीवन उतना ही शक्तिपूर्ण और आनन्दमय होगा, हालांकि पहले पहल दु:खों के बौछार खाना ही होगा। देखो आंखें खोल कर—तुम हो बीच में और तुम्हारी चारों ओर तरह तरह के लोग, तरह तरह के लोग, तरह तरह की चीजें, तरह तरह की नई-नई परिस्थितियां,—एक के बाद दूसरा घूमने लगते हैं। इन सबों से तुमको मिलना होगा; तुम सिर्फ अकेली होती तो अपने मन की उड़ानों के अनुसार ही आशा करती, जैसे मां के पेट के अन्दर जब थी तो एक रस में थी; पेट से जब ही निकली तो चारों ओर विचित्रता ही विचित्रता है न ? तब ? जो जैसा है उसकी स्थिति समझ कर ही उससे आशा करनी चाहिए न ? नीम से अगर मीठापन की आशा करोगी या मिरचा से खट्टा तो क्या होगा, मैया ?……

अपनी स्थिति समझ कर चलो :—मान लो, स्वीकार करो जो है उसे।……

प्रज्ञानपाद

आश्रम, १६-२-५१

शुभाशीर्वाद,

……अपना खानगी काम ठीक रखते हुए—दूसरे कामों में अपने को जरूर ही लगाना, जिस भांति एक लता अपने जड़ों पर कायम रह कर ही अपने को दूर दूर तक फैलाती है। अपना जड़ मजबूत न हो तो बाहर कुछ भी नहीं हो सकता—रस तो मिलेगा अपने जड़ों के जरिये न ? उस भांति तुम अपने कामों को, अपनी शिक्षा को, अपने शरीर-मन को सठीक, सबल, स्वास्थ्यवान्, आनन्दमय, आत्मनिर्भर रख कर चलोगी तो बाहर तुम आनन्द से

अपने को फैला सकोगी।

मैया मेरी, स्वामी जी के पास तो तुम आवोगी ही—पर अपने को तो इस कदर शिक्षा देनी चाहिए जिससे व्यावहारिक जीवन में तुमको दूसरों पर निर्भर नहीं करना पड़े, और तुम्हारे जीवन को सबल-सुन्दर आनन्दमय बनाने के लिये स्वामी जी तो है ही। Psychology में एम० ए० करना बहुत ठीक है—पिता जी ने ठीक ही कहा है। उधर बाहर-ही-बाहर की Psychology पढ़ लो और स्वामी जी के पास भीतरी Psychology, तुम्हारे हृदय की बातों का सत्यज्ञान मिलेगा, सत्य जानोगी, देखोगी और अपना जीवन उसी आधार पर प्रतिष्ठित कर लोगी। तुम्हारा मनुष्य जीवन सार्थक हो जायगा। तुम तुम हो—तुम्हारा हस्ती तुम्हारे ऊपर ही; कभी किसी से अपने को मिलाने का व्यर्थ चेष्टा नहीं करना। तुम्हारा आत्मसम्मान तुम्हारे हाथों मे ही है न? शादी के बारे में तुमने लड़कियों को जो कुछ कहा वह सब ठीक ही कहा है। मनुष्य जीवन में अगर स्पष्ट उद्देश्य, स्थिर ध्येय नहीं हुआ तो मनुष्य नाम का ही अधिकारी नही हुआ। वह तो पशु का जीवन है। साधारण लोग कुछ सोचते नहीं, कुछ देखते नहीं,—आप से आप जो होता जाता है उसी के वश में चलते रहते हैं। जन्म हुआ, खाते पीते है, बड़े होते, स्कूल आदि जाते, यौवन में ब्याह-शादी होती, बाल-बच्चे होते, मरते है। क्या कर रहे हैं, क्यों कर रहे है—क्या करना चाहिए, क्यों जन्म हुआ,—पशु-पक्षी, पेड़-पौधों का भी तो जन्म होता है, मनुष्य के जन्म में क्या फर्क है—कुछ भी नही देखते, कुछ भी नहीं सोचते! मैया मेरी, तुम देखो, बाहर से और भीतर से अपने जीवन पूरी तरह सुन्दर करने की कोशिश करो; तुम करो, जान-बूझ कर सब करो, होता-जाता-है नहीं! ·· ···

आनन्द में रहो—अपना काम ठीक से करो - सब बात लिखती रहो—

प्रज्ञानपाद

आश्रम, ८-३-५९

शुभाशीर्वाद,

......सब बातें बहुत ठीक लिखी हो,—सरल, स्वाभाविक प्रकाश है तुम्हारे हृदय के भावों का। ऐसा सहज हमेशा रहना। "सहज" कैसे रहा जाता? जब आदमी अपने पर निर्भर और विश्वास रखता है,—अपने में, अपनी शक्ति में निष्ठा रखता, यानी अपने आप में खुश रहता,—जिसके मन में यह भाव है कि मैं जो हूं, मैं जहां तक कर सकता वहां तक ही आशा करता हूं, जहां तक कर सकता था वहां तक ही किया मैंने—मैं मैं हूं, किसी के कहने से मेरा क्या आता-जाता है?—वही सहज रह सकता! इस भांति "सहज" रहने से "जीवन सार्थक और सुन्दर" होता है। "मन" बड़ा ही नाजुक और हिसाबवाली चीज है,—वह हमेशा सूक्ष्म से सूक्ष्म हिसाब जोड़ता रहता है, अपने कामों का। जब "जितना कर सकता था उतना नहीं किया"—यह बोध होगा तो मन अपने को अपराधी, दोषी ठहरेगा ही, साथ ही साथ "सिकुड़ना",—संकोच, हिचक!! और "सहज" नहीं! (१) तुम्हारे ऊपर स्वामी जी का अपार स्नेह और आशीर्वाद है, चलो आगे बढ़ो! (२)-(३) बहुत ठीक है, मैया बहुत ठीक है, यही तो मेरी मैया की बात है। तुम जो हो सो रहोगी, किसी के कहने से बदलोगी नहीं। सिर्फ दूसरों के कहने पर इतनी श्रद्धा रखनी चाहिए कि—दूसरों का कहना यथार्थ है या नहीं—ठीक है या नहीं इतना देख लेना चाहिए—जैसा कि तुमने लिखा—"मैं अपने हो समझ कर कुछ करूंगी"—! बहुत ठीक, मैया, बहुत ठीक। (४) ठीक ही है। (५) खुशी तो होनी ही चाहिए—सिर्फ दूसरों के कही हुई तारीफ से सुनकर ही नहीं—तुम वैसी हो यह जानकर: इसी का नाम है आनन्द! अपनी शक्ति का बोध ही आनन्द है! मैंने ऐसा ठीक किया, मैंने इस चीज को समझ लिया,—यह तो मेरी शक्ति है—यह जो अनुभव है इसका नाम ही है आनन्द! इस आनन्द के बिना कोई कुछ भी नहीं कर सकता। फिर (६) "बुराइयों" की बात? कुछ तो है ही—यह तो स्वीकार करना ही चाहिए—इसके लिये घबड़ाने की कोई जरूरत ही नहीं। यथासमय उसका भी काम होगा।

स्वामीजी तुम्हारे साथ हैं न ? पर एक बात—कभी "अच्छा-बुरा" की कसौटी पर अपने को कसना नहीं—बल्कि "सत्य" की, "यथार्थ" की कसौटी पर ही अपने को कसना चाहिए—क्योंकि अच्छा-बुरा तो देश-काल-पात्र के भेद से बदलेगा, पर सत्य-सूर्य स्थिर है न ?—क्या समझा लिखना। (७) "पढ़ूंगी"—यह "ऊंगी" पर विश्वास नहीं रखना—भविष्य पर; रहो वर्तमान में मैया। "करती हूं"—पर दृढ़ रहो ! (८) इंगलिश के लिये और कोशिश करनी चाहिए। (९) ठीक किया, लिखती रहो, समयानुसार दिखाना।

आनन्द से काम करती चलो,—

प्रज्ञानपाद

"अच्छा-बुरा" नहीं—ठीक-ठीक समझ या नासमझी है !!

प्रसाद, ८-८-५१

शुभाशीर्वाद,

······ सिर्फ मन लगा कर काम करना है। मैया, तुम क्या यह बात कभी सोचती हो कि इस बार हिन्दी में तुम्हारी वैसी स्थिति के वजह से तुमको जितनी चोट लगी उससे भी कहीं ज्यादह चोट दूसरों को लग सकती ? अपना काम करती चलो—समय पर सबों से मिलो, सबों से खेलो, पर अपने काम में तो पक्की रहो :

देखो मैया, खाना पीना, खेलना, कूदना, मनमौज से चलना तो प्राणी मात्र का धर्म है, पशु-पक्षी से लेकर सब प्राणी ही इसमें मजा लेते रहते हैं, तब मनुष्य का क्या विशेषता है ? मनुष्य के जीवन में एक आदर्श, एक लक्ष्य, एक उद्देश्य होता है, और उसी आदर्श, लक्ष्य या उद्देश्य को प्राप्त करने के लिये वह अपना एक परिकल्पना बनाता है—और उसी के अनुसार चलता है, लक्ष्यहीन आदर्शहीन उद्देश्यहीन जीवन मनुष्य का जीवन नहीं है। जरूर सिनेमा देखो, पर जैसा तय किया तुमने महीना में एक बार अच्छा तो है—कभी अच्छा सिनेमा हुआ तो दो बार भी जाओ ! जीवन को हल्का, चंचल, superficial बनाना इस समय बहुत ही

खतरनाक है, भविष्य में जीवन किसी गहराई में नहीं जा सकेगा। Shallowness is the worst enemy of man.

जो करना है सो करना है, जो जो विषय ले चुकी हो उन सबों पर ठीक-ठीक ध्यान देना है, "मन नहीं लगता"—तो छोड़ नहीं सकती जब, तब ?

साथी के लिये, जो तुम्हारे मन के अनुसार है उससे गहरी दोस्ती होने दो, बाकी सबों के साथ हिलमिल रहो, चन्दू अगर तुम्हारे लिये प्रिय और मधुर है, साथ ही साथ काम भी करनेवाली है तब तो अच्छी बात है। दिल की साथी मिले तो यह अमूल्य वस्तु है जीवन के लिये।······

आनन्द से काम करती चलो—

प्रज्ञानपाद

प्रसाद, २१-८-५१

शुभाशीर्वाद,

······रही तुम्हारी आदर्श की बात। अरे पगली, आदर्श, लक्ष्य, उद्देश्य के बिना एक पग भी आगे बढ़ सकती हो ? होस्टल में रहते हुए अगर कॉलेज जाने का लक्ष्य है तो उसी ओर पैर बढ़ाओगी और लाल दीदी के घर को लक्ष्य या आदर्श करो तो उसी ओर चलोगी। कहां जाना—यह अगर स्थिर न हो तो जाना ही संभव नहीं है न ? फिर एक बात—कॉलेज अगर लक्ष्य या आदर्श हो तो होस्टल से ही चलना शुरू करोगी न ? बल्कि जहां पर बैठी हो वहां से ही चलना शुरू करोगी न ? यह न कर होस्टल में बैठी हो—यह बात भूल जाओ और कालेज की बात सोचकर वहां पहुंच गई हो—ऐसा वर्ताव करने लगो तो क्या फल होगा ?—कालेज में कैसे पहुचोगी ?—रहोगी वही होस्टल में, क्योंकि रह रही हो तो वहीं पर ही।—अर्थात् जहां पर हो, तुम्हारी स्थिति जैसी है उसे स्वीकार न कर अगर आदर्श में ही रहने की कोशिश की जाय तो वह बेकार अर्थहीन काम होगा ! तब दो बातें हुई न ?—एक आदर्श, दूसरा वास्तव। वास्तव में रहते हुए आदर्श की ओर

बढ़ना,—आदर्श या लक्ष्य है दिल में और पैर हैं वास्तव की जमीन पर ! अर्थात् अपनी स्थिति को ठीक ठीक देखकर आदर्श की ओर चलना। चलना मानो ही है किसी की ओर : आदर्श का अर्थ है—जिसे देखकर, जिसे सामने रख कर आगे बढ़ा जाय ! चलना शुरु होगा कहां से ? अपनी जगह से !—जहां पर रह रही हो ; और आदर्श वहीं है जहां पर पहुंचना है : दो चीजें है न ? अब कहो क्या समझी ! अगर वास्तव ही सत्य है और कुछ नही तो—वास्तव क्या है—देखना तो चाहिए ! लड़की अपने घर पर थी,—क्यों आई होस्टल ? जब ही घर से निकली तब ही पढ़ने के उद्देश्य से, लक्ष्य से या पढ़ने को ही आदर्श मानकर चली न ? तब ? होस्टल किस लिये, कॉलेज किस लिए ? विश्वविद्यालय किस लिये ? उन चीजों की हस्ती क्या है ? वहां पर आकर अगर उसी के मुताबिक काम नही किया तो ढोंग हुआ न ? ढोंग किया होस्टल में रहने का मगर काम किया दूसरे मौज का ! ढोंग करती है वह, या तुम जो होस्टल में रहना चाहती हो होस्टल जिस काम के लिये वही करने को ? देखो—अन्त में। इस मिसाल से क्या समझी लिखना—

प्र०

प्रसाद, १३-९-५१

शुभाशीर्वाद,

……"दिली दोस्ती बहुत ही विरल चीज है ! अगर वह मिल जाय तो बहुत ही अनमोल चीज मिल गयी—यह समझना चाहिए। सबों से हिलमिल रहो,—सिर्फ जिन थोड़ी लड़कियों से दिल मिले उनसे ही कुछ गाढ़ा सम्पर्क रखना चाहिए।

आदर्श और उस ओर चलने का तरीका समझ गयी—इससे अच्छी बात और क्या हो सकती ? आदर्श, लक्ष्य, उद्देश्य—और "धर्म" एक ही चीज है : इसके बिना पशु और मनुष्य के जीवन में कोई भेद नही है : ठीक ही कहा तुमने, मैया,—"जब हमें यही नहीं मालूम है कि हमे कहां तक पहुंचना है तब तो हमारा चलना ही व्यर्थ है, अतः अपने को यह समझ कर कि हम कहां पर है और कहा

तक जाना है हमें, यह निश्चय कर ही तो चलना आरंभ करना चाहिए। उसी के अनुसार तो हम अपनी···गति का रफ्तार भी रखेंगे।" तुम अपने मन में साफ हो जाओ और तदनुसार काम करती चलो, तुम्हारी सहज गति और सहज आनन्द देखकर कोई तुम से पुछेगा तब ही कहोगी—नहीं तो कहने का मतलब क्या है? अपने पैरों को जब आगे रखती हो तो देखती हो तो किस जगह पर पैर डालती हूं, कीचड़ तो नहीं है, गाड़ा [गड़ा] तो नहीं, पैर तो जखम नहीं होगा? ठीक उसी तरह जहां पर तुम्हारी बात कहोगी वहां पर उसका काम होगा देखकर ही बोलोगी—

आनन्द के साथ काम करती रहो—

प्र०

चोरी का डर क्या? जहां तक हो सावधान रहना नहीं तो जब जाने का होगा तब जायगा—नहीं तो कभी नहीं जा सकता :—कहीं तो चोरी होती है, सब जगहों पर क्यों नहीं होती है?

प्रसाद, १५-६-५१

शुभाशीर्वाद,

······अच्छा किया सिनेमा देखा, और भी अच्छा है कि "बहुत ही अजीब अजीब स्वभाव की लड़कियां"—देख रही हो. देखो और भी "कि इन लड़कियों का स्वभाव कैसे इतनी जल्दी जल्दी-बदलता जाता है"। तुम एक हो, पर तुम्हारी चारो ओर है "बहु" "अनेक", भांति-भांति के लोग! ये भी एक ही तरह नहीं रहते—बदलते जाते! इस विचित्रता के समुद्र-लहर-लीला के अन्दर रहते हुए क्या तुम तुम्हारे अपने एक मन के मुताबिक दूसरों से "आशा" करोगी, मैया? हमेशा इस "विचित्रता" और "परिवर्तनशीलता" पर ध्यान रखो,—हल्की चीज, जिसमें भार कम है, हल्की हवा में ही इधर-उधर उड़ती रहती है—पर भारी चीज? उसी भांति जिस व्यक्ति में अपना भार, अपने में श्रद्धा-विश्वास-दृढ़ता नहीं वह चारों ओर की परिस्थिति के अनुसार क्षण-क्षण में नाचता रहता है!!

अब तुम्हारे "पागल" की बात ! "पागल" कहने से इतना घबड़ाती क्यों, रे मैया ! पागलपन है मन की बीमारी, जैसे शरीर की बीमारी है ! शारीरिक तरह-तरह की बीमारियों में पीड़ित रोगियों के अस्पताल है तो, मलेरिया, टायफायड, पेचिस, प्लुरिसी, टी० बी०, आदि कितनी शारीरिक बीमारियां हैं, वैसे ही तरह-तरह की मानसिक बीमारियां है ! याद करो—कहीं पर टायफायड फैल रहा है, सभी लोग क्या उसमें पड़ते हैं ? नहीं, जिन लोगों में उस बीमारी के विष को बर्दाश्त करने की शक्ति नहीं रहती, वे ही बीमार पड़ते ? तुम्हारी चारों ओर हर तरह की बीमारियों के बीज घुम रहे हैं, तुम्हारा शरीर स्वस्थ, शक्तिमान रहता जब तक तब तक तुम्हारा शरीर ठीक रहता है ! ठीक उसी तरह एक ही घटना से एक व्यक्ति के मन में चोट लग सकती, दूसरों को नहीं ! शरीर और मन का काम एक ही रीति से चलता है !! मन की बीमारी दबाने से नहीं होती, बल्कि दब जाने से होती ! मनुष्य में तरह-तरह के भाव है न ? इन भावों के मूल में, जड़ मे दो भाव प्रधान है, बल्कि एक ही भाव प्रधान है,—वे हैं—अपनापन या अर्थात् "अहंकार" का भाव और स्नेह-दुलार-प्रेम का भाव—बल्कि प्रधान है वही दूसरा भाव—"स्नेह-दुलार-प्रेम"-भाव ! और यह भाव पहले पहल नया और प्रबल रहता है शैशव मे ! उसी समय अगर बच्चे को ठीक-ठीक स्नेह-दुलार-प्रेम अपने पिता-माता से न मिला तो पागल होने का डर रहता है, पर यह भी निर्भर करता है बच्चे के ऊपर, जो उसे बर्दाश्त नहीं कर पाता, फिर आगे चलकर भी जिसको स्नेह-दुलार न मिलता तो उसका मन उस पीछे के जीवन में बंधा रहता है, बड़े होते हुए भी उसके मन का प्रधान भाग बन्द रहता है उस अतीत जीवन की अतृप्ति के अन्दर—इसलिये उसके जीवन में दो हिस्से हो जाते हैं—एक वर्तमान का और दूसरा अतीत का, और इन दोनों में खींचातानी चलती रहती है। इस खींचातानी को बर्दाश्त न कर सकने के कारण उसकी बुद्धि डामाडोल हो जाती है, जिसका नाम है मन की अस्थिरता, चंचलता, छटपटाहट, मन-न-लगना आदि और यही स्थिति खूब जोर हो जाय और बर्दास्त के बाहर हो चले तो बुद्धि काम करना

छोड़ देती,—जिसका नाम है "पागलपन"। अब क्या देखा तब ? **बुद्धि काम नहीं कर सकती** ! बुद्धि का क्या काम है ?—मैं क्या हूं, मैं कहां हूं, मैं कब हूं, किससे क्या होता है—किसके साथ क्या संबन्ध है,—आदि जो देखता है वही बुद्धि है न ? पागल कौन है ?—जिसको इन बातों का ज्ञान नहीं रहता,—जैसे वह लड़की "अपने पति को भी **भूल** जाती है" ! सम्पूर्ण-रूप से **भूल जाना** ही, जब तक वह भूल रहे, तब तक पागल, फिर कभी कभी बुद्धि आती भी है—जैसे "बीच बीच में उसे कुछ कुछ याद आता है" ! जिसे कुछ भी कभी भी याद नहीं आता वह पूर्ण पागल है ! तब बात क्या निकली ?—भय से, शर्म से, भाव (खासकर वही स्नेह-दुलार पाने की इच्छा—और साथ ही साथ "अहंकार") दब जाय—तब यह स्थिति कम-वेश उठ खड़ी होती ! तब ? पागल कौन है ? जो अपने आप में नहीं है, जो अपनी स्थिति को नहीं जानता, जो अपनी चारो ओर की परिस्थितिओं के साथ अपना संबन्ध को नहीं देख पाता, और उसी के अनुसार खुशी से अपना जीवन चला नहीं सकता वही तो कम-वेश पागल है न ? उस दृष्टि से प्रायः सभी लोग कम-वेश पागल हैं तो ? जीजाजी ने तुम्हारा विस्कूट खा लिया—यह क्या है ? अपनी सहज प्रवृत्ति अगर सहज रूप से काम कर सकी, कुछ भी बाधा या दबाव उस पर न पड़ने पावे—तो मन सहज भाव से काम करता—जैसे पशु और पूर्ण असभ्य लोग—इन में मन की बीमारी या पागलपन, हिस्टिरिया आदि नहीं होते ! पर समाज जब से हुआ तब से हो लोग अपनी प्रवृत्ति के मुताबिक सहज रूप से, स्वच्छन्द भाव से काम नहीं कर सकते, इसलिये मन पर, भाव पर बाधा या दबाव पड़ता ही है, पर साथ ही साथ "मनुष्य" होने के नाते "बुद्धि" भी तो है न? यथोचित रूप से, परिस्थिति के अनुसार अपने भावों का प्रकाश हो और तब बुद्धि भी काम करे—यही मनुष्य की "मनुष्यता" है ? देखो अपने में, तुम कैसी थी—और अब ?क्यों यह परिवर्तन ? कहां गया वह सिकुड़ा-हुआ, दबा हुआ, मुर्झा-हुआ, शिर-नीचा-किया-हुआ चेहरा, रे मैया ? और अब ? कैसे हुआ यह परिवर्तन—देखो, याद करो ! क्या तुम "पागल" होगी ? या तुम्हारी चारों ओर के "पागलों" के बीच तुम स्वस्थ रहोगी ?

"स्वास्थ्य" का मानी क्या ?—जिसे तुम लोग" "healthy(i)-ness" कहती हो ?—"स्वास्थ्य" मानी "स्वस्थ" का भाव ! "स्वस्थ"—क्या है ? "स्व+स्थ" ! अपने में रहनेवाला ! अपने आप में जो रहता है वह है "स्वस्थ" और उसी में "स्वास्थ्य" है—उसमें आधि (मानसिक रोग) और व्याधि (शारीरिक रोग) नहीं है, वह है healthy !!

क्या समझी लिखना—नहीं तो फिर आगे ! तुम जरूर ही समझोगी—खुश रहो, अपने आप में रहो—कुसुम, चन्द्रा अगर तुम्हारे दिल की हों तो ठीक ही तो है—अपने आप में रहो—

प्र०

प्रसाद, १७-८-५३

शुभाशीर्वाद,

...... जरूर ही, मैया, तुम्हारे हाथ से या तुम्हारे मुंह से जो भी कुछ हों या निकले सब सत्य-यथार्थ और सुन्दर हों—सब जानकारी के साथ हों, यही तो प्रज्ञान का काम है—दृढ़ स्थिर अचंचल ! '' हां मैया, सहज रह कर बाहर की अनन्त विचित्रताओं को अपनाओ, तुम्हारे भीतर सब समाता जाए, तभी तो तुम्हारा "मैं" कहने पर सारे विश्व के साथ एक ही भाव मालूम होगा—क्षुद्र संस्कारों का बन्धन नही रहेगा । "सभी विचित्रताओं को सरलता से पचाई जा रही हूं"—"सब अन्दर समाती जा रही हूं"—सुन्दर है : सब प्राकृतिक है,—प्रकृति का अनन्त रूप है—इन अनन्त रूपों में प्रकृति का प्रकाश हो रहा है—सिर्फ अपने क्षुद्र संकीर्ण संस्कारों में बन्द रहने पर उनसे अलग सब कुछ ही अस्वाभाविक, सुतरां बुरा मालूम होता है। जो हो रहा है, जो भी प्रकाश में आता है वह प्राकृतिक है,—सिर्फ अन्तर है किसमें ? तरह तरह के विकास के स्तर में, जैसे एक मनुष्य जीवन में ही शैशव, बाल्य, यौवन, प्रौढत्व, वार्द्धक्य—तरह-तरह के स्तर है न, शरीर और मन के विकास में ! उसी भांति मनुष्य मनुष्य में—बल्कि लोग लोग में—विकास के भिन्न भिन्न स्तर है ! मन के विकास के भिन्न भिन्न

छोड़ देती,—जिसका नाम है "पागलपन"। अब क्या देखा तब ? **बुद्धि काम नहीं कर सकती** ! वुद्धि का क्या काम है ?—मैं क्या हूं, मैं कहां हूं, मैं कब हूं, किससे क्या होता है—किसके साथ क्या संबन्ध है,—आदि जो देखता है वही बुद्धि है न ? पागल कौन है ?—जिसको इन बातों का ज्ञान नहीं रहता,—जैसे वह लड़की "अपने पति को भी **भूल** जाती है" ! सम्पूर्ण-रूप से **भूल जाना** ही, जब तक वह भूल रहे, तब तक पागल, फिर कभी कभी बुद्धि आती भी है—जैसे "बीच बीच में उसे कुछ कुछ याद आता है" ! जिसे कुछ भी कभी भी याद नहीं आता वह पूर्ण पागल है ! तब बात क्या निकली ?—भय से, शर्म से, भाव (खासकर वही स्नेह-दुलार पाने की इच्छा—और साथ ही साथ "अहंकार") दब जाय—तब यह स्थिति कम-बेश उठ खड़ी होती ! तब ? पागल कौन है ? जो अपने आप में नहीं है, जो अपनी स्थिति को नहीं जानता, जो अपनी चारो ओर की परिस्थितिओं के साथ अपना संबन्ध को नहीं देख पाता, और उसी के अनुसार खुशी से अपना जीवन चला नहीं सकता वही तो कम-बेश पागल है न ? उस दृष्टि से प्रायः सभी लोग कम-बेश पागल हैं तो ? जीजाजी ने तुम्हारा बिस्कूट खा लिया—यह क्या है ? अपनी सहज प्रवृत्ति अगर सहज रूप से काम कर सकी, कुछ भी बाधा या दबाव उस पर न पड़ने पावे—तो मन सहज भाव से काम करता—जैसे पशु और पूर्ण असभ्य लोग—इन में मन की बीमारी या पागलपन, हिस्टिरिया आदि नहीं होते ! पर समाज जब से हुआ तब से ही लोग अपनी प्रवृत्ति के मुताबिक सहज रूप से, स्वच्छन्द भाव से काम नहीं कर सकते, इसलिये मन पर, भाव पर बाधा या दबाव पड़ता ही है, पर साथ ही साथ "मनुष्य" होने के नाते "बुद्धि" भी तो है न? यथोचित रूप से, परिस्थिति के अनुसार अपने भावों का प्रकाश हो और तब बुद्धि भी काम करे—यही मनुष्य की "मनुष्यता" है ? देखो अपने में, तुम कैसी थी—और अब ? क्यों यह परिवर्तन ? कहां गया वह सिकुड़ा-हुआ, दबा हुआ, मुर्झा-हुआ, शिर-नीचा-किया-हुआ चेहरा, रे मैया ? और अब ? कैसे हुआ यह परिवर्तन—देखो, याद करो ! क्या तुम "पागल" होगी ? या तुम्हारी चारों ओर के "पागलों" के बीच तुम स्वस्थ रहोगी ?

एक वृक्ष फैल जाता है अपनी चारों ओर अपनी शाखा-प्रशाखाओं को फैला कर, लेकिन अपनी मूल जड़ों के आधार पर खड़ा रहते हुए ! ! ठीक है न, मैया ? देखो देखो—विचित्रता सत्य है, प्राकृतिक है। "साधारण" और प्राकृतिक का भेद याद रखना—अब तक तुमने जिन बातों को, जिन भावों को अपने अन्दर देखा और पाया वे ही ठीक है और सब बेठीक है—यही है संकीर्णता, एक ही शरीर के अन्दर बन्द रहना, "मैं" है तब उस एक ही शरीर में,—नहीं है विचित्रता अपनी चारो ओर, (और अपने अन्दर भी); वह विचित्रता है—इसे देखना है, इसे अपनाना है क्योंकि उसके बाद "है"—इस सहज समझ से सबों के साथ सहज व्यवहार होता है—यही है अपनापन—फिर उसका अनुभव—भीतर है आनन्द—बाहर के लिए मैत्री। "मानना" और "देखना"—दोनों में फर्क है न ? जो लोग मान कर ही चलते है उनके पास कोई युक्ति तर्क नही रहता; तुम unconscious का रूप और काम देख चुकी हो, सुतरा उसके विपरीत बात कैसे मान लोगी ? फिर अज्ञान के पथ पर "मानना" ? अब तुम्हारी और सब बातों का उत्तर संक्षेप मे ही दिए जाते हैं—फिर देखने की कोशिश करो—(१) ईश्वर, पाप, भाग्य आदि—जो लोग बहस करते हैं वे मानते है या जानते हैं ? दहीबड़ा खा कर तुम्हारे पेट मे दर्द हुआ—क्या ईश्वर की इच्छा से ? (क्योंकि उसकी इच्छा के विरुद्ध कुछ भी नहीं हो सकता) वही दहीबड़ा दूसरे किसी के लिए लाभदायक है—यह भेद क्यों? आदमी आदमी में फर्क ? "पाप" किसे कहते हैं ?—जिससे दुख हो, भय हो—दहीबड़ा खाना तुम्हारे लिए पाप हुआ। क्यों ? तुम्हारे शरीर के अनुकूल नहीं था तो भी खाया, न जान कर; तब ? एक चीज किसी के लिए "पाप" और किसी के लिए "पुण्य" है। कब, कहा, किसके लिए, किस परिस्थिति में—इस पर बाहर के सब कुछ ही निर्भर है, आश्रित है, अधीन है :—इसलिए सब कुछ ही आपेक्षिक (relative) है, "निरपेक्ष धर्म" (absolute) कुछ भी नहीं है। जिसकी जैसी मान्यता, उसके विपरीत उसके लिए "पाप" है। One man's meal is another man's poison—एक की लाठी दूसरे के लिए बोझ ! क्या मानी है ? तब निरपेक्ष

स्तर हैं न ? वाहर वूढ़ा भीतर वच्चा।

"नीचता" क्यों कहती ? क्या घृणा से या निम्न स्तर की दृष्टि से ? एक वच्चा अगर लाल चमकदार कपड़े के लिए रोता रहे तो उसे नीच कहोगी या नासमझ वच्चा ? हां लेकिन आज का दिखावा भी तो वहुत सस्ता पड़ गया है—वाहर का शरीर अन्दर के मन की स्थिति को नहीं दिखाता···ठीक ही कहती हो, कितना लड़कपन देखो, कपड़े किस लिए ? नंगापन ढकने के लिए तो ? फिर चुंकि शरीर के साथ उसका सम्पर्क है इसलिए वह **"साफ हो"** यही एकमात्र कसौटी हो और शरीर उसे वहन कर सके, उसके द्वारा वाहर की हवा एकदम रुक न जाए, शरीर पर उसका असर न हो—इतना ही देखना है तो ! कितने रु० का कपड़ा—वड़े मजे की वात है ! "रुपया तो जाता आता है—तव फिर ? आज देने-वाला कोई न रह जाए तो क्या रह जाएगा ? पूरी तरह नंगापन दीखेगा"—वड़ा ही सुन्दर कहा तुमने—वाहर के ऊपर जितनी ही निर्भरता—उतना ही उसके न रहने का डर—उतना ही दुख—सर्वं परवशं दुःखम्—परवशता ही दुख है सुतरां सर्वं आत्मवशं सुखम्—आत्मवशता, अपने उपर निर्भरता ही, सुख है—तव चुंकि वाहर के उपर निर्भर करना ही पड़ता है जव—**जहां तक कम हो सके** वहां तक ही वाहर के उपर निर्भर और आश्रित होना ही सुख की आनन्द की कुंजी है। **सहज सरल और साफ**—यही नारा है।

मिलो सव से लेकिन "मिशना" नहीं। "मिलना" और "मिशना" अन्तर क्या? वंगला में—"मेलो सकलेर संगे किन्तु मिशे जेओ ना" पानी के साथ पानी **मिलता नहीं—मिशता है**—लेकिन मिलना ? गले गले मिलती हो ! "मैं उपर होकर सव तरह की विचित्रता अपने में लेती रहूं और तव भी अपनी स्थिति में दृढ़ रहूं प्रज्ञान की तो यही स्थिति है न ?" क्या मानी है इसका ?—"कितनी सरलता से मैं उन वातों को लेती हूं और हां में हां मिलाती हूं कि लोग मुझे अपने ही जैसा समझ सव कुछ वता देती हैं—यह मेरे लिए अच्छा ही होता है"—ठीक है। पर एक हद तक—जहां तक वही अपनी स्थिति में दृढ़ रहकर ही ! खोल डालो अपनी संकीर्णताओं को—फैल जाओ अपनी विचित्रताओं में—जिस भांति

फुर्संत से लिखो क्या समझी ।—

प्र०

आश्रम, १७-३-५४

शुभाशीर्वाद,

अच्छी बात है, भइया ; अपनी हस्ती का खयाल कभी चुकने नही देना—जिस हस्ती में जब, उसी हस्ती के मुताबिक तब काम होना चाहिए न ? जब पढनेवाली तब एक हस्ती, जब लड़की तब एक हस्ती, जब दोस्त तब और-एक, जब नागरिक तब और-एक, जब मनुष्य तब और-एक आदि आदि। मनुष्य वही है जो अपनी हस्तियों का सठीक जानकारी रखकर देश-काल-पात्र देखकर काम कर सके ! उसका जीवन होगा सावलील लचकदार elastic : जड़, कठिन rigid नही है ! 'सीखने के क्षेत्र में गुमामद तो सिर्फ झूठा अहंकार है'—बहुत ठीक। सेवा, सेवा, सेवा—सेवा की वृत्ति न आने पर सीखने का रास्ता बन्द है । और जीवन तो है सीखने का क्षेत्र—हमेशा, हर-जगह, हर व्यक्ति के पास ! बंगला में कहावत है—

येखाने देखिबे छाई
उड़ाइया देखो ताई—
पेलेओ पाइते पारो लुकान रतन !

इसका नाम है श्रद्धा ।

जहा मालूम हो रहा है—राख है, वहा पर भी उसे उड़ा कर देख लो, उसके अन्दर छिपा-हुआ रत्न भी रह सकता है !

जीवन को हमेशा खुला रखना चाहिए ताकि कोई भी अनुभव छूट न जाय ।···आनन्द के साथ काम करती रहो—जहा तक तुम्हारा वश है, शक्ति है—उसके बाद कुछ भी नही सोचना । रात १० बजे के बाद जो पढता है वह बेवकूफ है। रात जाग कर पढ़ना क्या बुद्धिमानी और बहादुरी का लक्षण है ? उस फेर मे नही पड़ना। जो लोग हमेशा regular नही रहते हैं उनको ही आखिर में रात का सहारा लेना पड़ता है, उनसे ज्ञान कुछ नही आता,

(absolute) धर्म, निरपेक्ष पाप क्या है, है कुछ ? मनुष्य धर्म कैसा धर्म ? उस दृष्टि से पाप क्या है ?—जो कुछ भी है वह पाप हो, ईश्वर हो, धर्म हो संस्कार हो—एक ही आपेक्षिक है—सबों के लिए, हमेशा, सब जगह पर "एक" नहीं है ; मनमाने की बात है सब कुछ !

ईश्वर ने मनुष्य को बनाया या मनुष्य ने ईश्वर को ? एक ही ईश्वर का वर्णन सबों के लिए है क्या ? फिर आज देश-काल का फर्क जो विज्ञान ने उड़ा दिया वह किसने किया ? ईश्वर ने तो दूर-नजदीक की सृष्टि की न ? फिर आज मनुष्य के लिए दूर कहां ? किसने किया ? यहां बैठ कर लाखों मील दूर की आवाज सुनती हो न radio में ?

"वैराग्य" : वैराग्य लेना कैसा ? त्याग और वैराग्य में—"छोड़ना" और "छूट जाना" का फर्क है। वैराग्य (वि+राग) का भाव, जहां "राग" नहीं है, आकर्षण—"लगाव" नहीं है वहीं पर वैराग्य है : यह तो प्राकृतिक स्थिति है। तुम्हारी मित्र दिन के चौबीस घंटे में ६/७ घंटे सोती है न ? क्यों सोती ? अपनी कीमती कपड़े-जेवरों-मौज की चीजों को कहां रखती उस समय ? क्यों नहीं उन सबों को पकड़ रहती ? सब कुछ उसकी चारों ओर बल्कि उसके शरीर पर रहे तो भी उन सबों के प्रति आकर्षण उसका उस समय कहां रहता ? सब कुछ रहते हुए भी नहीं रहता न ? फिर उसकी बचपन में जिन चीजों का आकर्षण था—आज वैसा ही है क्या ? आज वही चीज उसे ढेर सी मिले तो ? क्या होगा ? उन चीजों पर "वैराग्य"। सोने के समय सब के प्रति वैराग्य। यह **वैराग्य जानकर** ! वही जानकर हो, बल्कि जानकर जगते हुए सोना ही वैराग्य है। सोना कब ठीक होता है ? सोने में जो आराम, आनन्द शान्ति मिलती—वे कब ठीक ठीक मिलती ? उसी तरह वैराग्य कब ठीक है—पका फल गाछ को छोड़ता नहीं—वह छूट जाता है—फिर पूरा पकने से पहले तोड़ने से क्या होता है (१) इस फल से और (२) पके फल से क्या अन्तर है ? (१) है वैराग्य (२) है त्याग—(१) है छूट जाना (२) है छोड़ना—

जानबूझ कर अपने ही कल्याण के लिये इसे भोग करना चाहिए—
वहने का नाम है उपभोग और करने का नाम है—भाग ! घबड़ाने
की कोई गुंजाइश ही नहीं।······

आँखें खोलकर, अपने आप में रहकर आनन्द से चलो—

प्र०

आश्रम. २८-३-५६

शुभाशीर्वाद,

अरे, मैया, इतना उतावला क्यों रे पगली ? "जो होता है
(हर एक कार्य) सबका कारण होता ही है"—तब ? कारण ही
देखना है न ? धीरता से आँखें खोल कर कारण देखना चाहिए।
जो हो गया सो तो हो गया,—"अभागी" कहने से, "भाग्य को
मंजूर नहीं था" कहने से तो वह "ना" नहीं हो सकता · पर हां अगर
यह भान हो अभी कि वैसा होना ठीक नहीं लगता तो उसका कारण
ढूंढ़ना है ताकि आइन्दा वैसा न हो सके, वैसी भूल ! इसमें अच्छा-
बुरा, "अभागी"-सौभाग्यवती की गुंजाइश कहां ?

(१) "सब समय सचेत रहो"– बड़ी अच्छा बात है—जो
प्रज्ञानपथ पर चले उसके लिये जीवन तो अनुभवों की खान है,
प्रत्येक अनुभव को, विविध अनुभवों को अपना कर (उनमें मूल्य-
बोध न लाकर) जीवन को भर लेने में सहायक होते हैं "मैं हूं"
सिर्फ और "हैं मेरे अनुभव" ! बस !!

(२) कार्य का कारण होता ही है. रोग का कारण
(क) शारीरिक (ख) मानसिक (ग) शारीरिक-मानसिक
(घ) मूल प्राकृतिक—बाहरी—होते हैं : देखना है क्या था। अगर
(क) (ग) (घ) में से नहीं तो (ख) में ढूंढना है !

(३) परीक्षा के आगे या उसी समय दो श्रेणी के विद्यार्थी
प्रायः बीमार पड़ते हैं—'flying to illness'—पहले, वे जिनमें
fail करने का डर है पर अपने अहंकार के कारण फेल होना
बर्दाश्त नहीं होता, उनका मन बीमारी का सहारा होता है ; और
दूसरे, अच्छे विद्यार्थी—जिन्हें अपने place का खयाल हो,

थकावट होती है—

आनन्द से काम करो, घबड़ाना किसलिये, मइया ? "जितना कर सकती थी उतना किया, वस"—यही नारा है !

प्र०

आश्रम, ९-४-५५

शुभाशीर्वाद,

······पढ़ाई तो जीवन का एक अंग है लेकिन उसके साथ और भी तो जरूरी अंग हैं न ? शिक्षा ? शिक्षा के दो अंग हैं : तथ्य-संग्रह और तत्व-बोध : तत्व-बोधहीन तथ्यसंग्रह मानों मुर्दे के ऊपर प्रसाधन ! और तथ्य-संग्रहहीन तत्व-बोध मानों जिन्दे आदमी पर जौलूस नहीं। **दोनों ही चाहिए :** पर जीवन की स्थिरता, सुख, आनन्द के लिये तत्वबोध चाहिए ही वरना बाहर प्रचुर ऐश्वर्य रहते हुए भी जैसे कोई अपने को कंगाल मानता रहे !! बुद्धि कुछ भी काम नहीं देती अगर दिल उसके साथ सहज भाव से न चले— जैसा तुम लिख रही हो—अपनी परीक्षा के समय की स्थिति के बारे में।

—वहां 'तथ्य-संग्रह' ही हो रहा है।······

याद है न कि मनुष्य की शक्ति की कुंजी इसमें है कि मनुष्य अपनी सीमाओं, हदों या limitations को जाने ! अपनी सीमाओं के—देश-काल-पात्र के अनुसार—बाहर न जाय ! साथ ही साथ ये सीमाएं उम्र के भावों के साथ साथ बदलती रहती हैं—दो वर्ष पहले तुम्हारे दिल में जैसा भाव रहता था—आज भी वैसा ही रहेगा क्या ? परिवर्तन नहीं होगा ? जब जैसा भाव आवे, चूंकि वे आये,—उसे स्वीकार कर परिस्थिति के अनुसार, अपनी सीमाओं के अनुसार, उसको बाहर प्रकाश पाने दो ! जीवन की वृद्धि के साथ ही साथ अनुभवों की विचित्रता होनी ही चाहिए और उन अनुभवों में न बहकर उसे पचा कर प्रयोजन के अनुसार उसे कुशल में प्रकाशित होने देने की कोशिश करनी चाहिए। मनुष्य का काम "बहना" नहीं "करना" ! असहाय पर-प्रेरित होकर बहना नहीं,

जानबूझ कर अपने ही कल्याण के लिये उसे भोग करना चाहिए— वहने का नाम है उपभोग और करने का नाम है—भाग ! घबड़ाने की कोई गुंजाइश ही नहीं।......

आंखें खोलकर, अपने आप में रहकर आनन्द से चलो—

प्र०

आश्रम, २८-३-५६

शुभाशीर्वाद,

अरे, मैया, इतना उतावला क्यों रे पगली ? "जो होता है (हर एक कार्य) सबका कारण होता ही है"—तब ? कारण ही देखना है न ? धीरता से आंखें खोल कर कारण देखना चाहिए। जो हो गया सो तो हो गया,—"अभागी" कहने से, "भाग्य को मंजूर नही था" कहने से तो वह "ना" नही हो सकता : पर हां अगर यह भान हो अभी कि वैसा होना ठीक नहीं लगता तो उसका कारण ढूंढ़ना है ताकि आइन्दा वैसा न हो सके, वैसी भूल ! इसमें अच्छा-बुरा, "अभागी"-सौभाग्यवती की गुंजाइश कहां ?

(१) "सब समय सचेत रहो"— बड़ी अच्छा बात है—जो प्रज्ञानपथ पर चले उसके लिये जीवन तो अनुभवों की खान है, प्रत्येक अनुभव को, विचित्र अनुभवों को अपना कर (उनमें मूल्य-बोध न लाकर) जीवन को भर लेने में सहायक होते हैं . "मैं हूं" सिर्फ और "हैं मेरे अनुभव" ! बस !!

(२) कार्य का कारण होता ही है . रोग का कारण (क) शारीरिक (ख) मानसिक (ग) शारीरिक-मानसिक (घ) मूल प्राकृतिक—बाहरी—होते हैं : देखना है क्या था। अगर (क) (ग) (घ) में से नहीं तो (ख) में ढूढ़ना है !

(३) परीक्षा के आगे या उसी समय दो श्रेणी के विद्यार्थी प्रायः बीमार पड़ते हैं—'flying to illness'—पहले, वे जिनमें fail करने का डर है पर अपने अहंकार के कारण फेल होना बर्दाश्त नहीं होता, उनका मन बीमारी का सहारा होता है ; और दूसरे, अच्छे विद्यार्थी—जिन्हें अपने place का खयाल हो,

थकावट होती है—

आनन्द से काम करो, घबड़ाना किसलिये, मइया ? "जितना कर सकती थी उतना किया, बस"—यही नारा है !

प्र०

आश्रम, ९-४-५५

शुभाशीर्वाद,

......पढ़ाई तो जीवन का एक अंग है लेकिन उसके साथ और भी तो जरूरी अंग हैं न ? शिक्षा ? शिक्षा के दो अंग हैं : तथ्य-संग्रह और तत्व-बोध : तत्व-बोधहीन तथ्यसंग्रह मानों मुर्दे के ऊपर प्रसाधन ! और तथ्य-संग्रहहीन तत्व-बोध मानों जिन्दे आदमी पर जौलूस नहीं। **दोनों ही चाहिए :** पर जीवन की स्थिरता, सुख, आनन्द के लिये तत्वबोध चाहिए ही वरना बाहर प्रचुर ऐश्वर्य रहते हुए भी जैसे कोई अपने को कंगाल मानता रहे ! ! बुद्धि कुछ भी काम नहीं देती अगर दिल उसके साथ सहज भाव से न चले—जैसा तुम लिख रही हो—अपनी परीक्षा के समय की स्थिति के बारे में।

—वहां 'तथ्य-संग्रह' ही हो रहा है।......

याद है न कि मनुष्य की शक्ति की कुंजी इसमें है कि मनुष्य अपनी सीमाओं, हदों या limitations को जाने ! अपनी सीमाओं के—देश-काल-पात्र के अनुसार—बाहर न जाय ! साथ ही साथ ये सीमाएं उम्र के भावों के साथ साथ बदलती रहती हैं— दो वर्ष पहले तुम्हारे दिल में जैसा भाव रहता था—आज भी वैसा ही रहेगा क्या ? परिवर्तन नहीं होगा ? जब जैसा भाव आवे, चूंकि वे आये,—उसे स्वीकार कर परिस्थिति के अनुसार, अपनी सीमाओं के अनुसार, उसको बाहर प्रकाश पाने दो ! जीवन की वृद्धि के साथ ही साथ अनुभवों की विचित्रता होनी ही चाहिए और उन अनुभवों में न बहकर उसे पचा कर प्रयोजन के अनुसार उसे कुशल में प्रकाशित होने देने की कोशिश करनी चाहिए। मनुष्य का काम "बहना" नहीं "करना" ! असहाय पर-प्रेरित होकर बहना नहीं,

जानबूझ कर अपने ही कल्याण के लिये उसे भोग करना चाहिए—वहने का नाम है उपभोग और करने का नाम है—भाग ! घबड़ाने की कोई गुंजाइश ही नहीं।……

आंखें खोलकर, अपने आप में रहकर आनन्द से चलो—

प्र०

आश्रम, २८-३-५६

शुभाशीर्वाद,

अरे, मैया, इतना उतावला क्यों रे पगली ? "जो होता है (हर एक कार्य) सबका कारण होता ही है"—तब ? कारण ही देखना है न ? धीरता से आंखें खोल कर कारण देखना चाहिए। जो हो गया सो तो हो गया,—"अभागी" कहने से, "भाग्य को मंजूर नहीं था" कहने से तो वह "ना" नहीं हो सकता : पर हां अगर यह भान हो अभी कि वैसा होना ठीक नहीं लगता तो उसका कारण ढूड़ना है ताकि आइन्दा वैसा न हो सके, वैसी भूल ! इसमें अच्छा-बुरा, "अभागी"-सौभाग्यवती की गुंजाइश कहां ?

(१) "सब समय सचेत रहो"— बड़ी अच्छा बात है—जो प्रज्ञानपथ पर चले उसके लिये जीवन तो अनुभवों की खान है, प्रत्येक अनुभव को, विचित्र अनुभवों को अपना कर (उनमें मूल्य-बोध न लाकर) जीवन को भर लेने मे सहायक होते हैं . "मैं हूं" सिर्फ और "हैं मेरे अनुभव" ! बस !!

(२) कार्य का कारण होता ही है रोग का कारण (क) शारीरिक (ख) मानसिक (ग) शारीरिक-मानसिक (घ) मूल प्राकृतिक—बाहरी—होते हैं : देखना है क्या था। अगर (क) (ग) (घ) में से नहीं तो (ख) में ढूड़ना है !

(३) परीक्षा के आगे या उसी समय दो श्रेणी के विद्यार्थी प्रायः बीमार पड़ते हैं—'flying to illness'—पहले, वे जिनमें fail करने का डर है पर अपने अहंकार के कारण फेल होना बर्दाश्त नहीं होता, उनका मन बीमारी का सहारा होता है ; और दूसरे, अच्छे विद्यार्थी—जिन्हें अपने place का खयाल हो,

थकावट होती है—

आनन्द से काम करो, घबड़ाना किसलिये, मइया ? "जितना कर सकती थी उतना किया, बस"—यही नारा है !

प्र०

आश्रम, ९-४-५५

शुभाशीर्वाद,

······पढ़ाई तो जीवन का एक अंग है लेकिन उसके साथ और भी तो जरूरी अंग हैं न ? शिक्षा ? शिक्षा के दो अंग हैं : तथ्य-संग्रह और तत्व-बोध : तत्व-बोधहीन तथ्यसंग्रह मानों मुर्दे के ऊपर प्रसाधन ! और तथ्य-संग्रहहीन तत्व-बोध मानों जिन्दे आदमी पर जौलूस नहीं। **दोनों ही चाहिए :** पर जीवन की स्थिरता, सुख, आनन्द के लिये तत्वबोध चाहिए ही वरना बाहर प्रचुर ऐश्वर्य रहते हुए भी जैसे कोई अपने को कंगाल मानता रहे !! बुद्धि कुछ भी काम नहीं देती अगर दिल उसके साथ सहज भाव से न चले—जैसा तुम लिख रही हो—अपनी परीक्षा के समय की स्थिति के बारे में।

—वहां 'तथ्य-संग्रह' ही हो रहा है।······

याद है न कि मनुष्य की शक्ति की कुंजी इसमें है कि मनुष्य अपनी सीमाओं, हदों या limitations को जाने ! अपनी सीमाओं के—देश-काल-पात्र के अनुसार—बाहर न जाय ! साथ ही साथ ये सीमाएं उम्र के भावों के साथ साथ बदलती रहती हैं—दो वर्ष पहले तुम्हारे दिल में जैसा भाव रहता था—आज भी वैसा ही रहेगा क्या ? परिवर्तन नहीं होगा ? जब जैसा भाव आवे, चूंकि वे आये,—उसे स्वीकार कर परिस्थिति के अनुसार, अपनी सीमाओं के अनुसार, उसको बाहर प्रकाश पाने दो ! जीवन की वृद्धि के साथ ही साथ अनुभवों की विचित्रता होनी ही चाहिए और उन अनुभवों में न बहकर उसे पचा कर प्रयोजन के अनुसार उसे कुशल में प्रकाशित होने देने की कोशिश करनी चाहिए। मनुष्य का काम "बहना" नहीं "करना" ! असहाय पर-प्रेरित होकर बहना नहीं,

जानबूझ कर अपने ही कल्याण के लिये उसे भोग करना चाहिए—वहने का नाम है उपभोग और करने का नाम है—भाग ! घबड़ाने की कोई गुंजाइश ही नहीं।......

आंखें खोलकर, अपने आप में रहकर आनन्द से चलो—

प्र०

आश्रम, २८-३-५६

शुभाशीर्वाद,

अरे, मैया, इतना उतावला क्यों रे पगली ? "जो होता है (हर एक कार्य) सबका कारण होता ही है"—तब ? कारण ही देखना है न ? धीरता से आंखें खोल कर कारण देखना चाहिए। जो हो गया सो तो हो गया,—"अभागी" कहने से, "भाग्य को मंजूर नहीं था" कहने से तो वह "ना" नहीं हो सकता . पर हां अगर यह भान हो अभी कि वैसा होना ठीक नहीं लगता तो उसका कारण ढूंढ़ना है ताकि आइन्दा वैसा न हो सके, वैसी भूल ! इसमें अच्छा-बुरा, "अभागी"-सौभाग्यवती की गुंजाइश कहां ?

(१) "सब समय सचेत रहो"—बड़ी अच्छा बात है—जो प्रज्ञानपथ पर चले उसके लिये जीवन तो अनुभवों की खान है, प्रत्येक अनुभव को, विचित्र अनुभवों को अपना कर (उनमें मूल्य-बोध न लाकर) जीवन को भर लेने में सहायक होते है "मैं हू" सिर्फ और "है मेरे अनुभव" ! बस !!

(२) कार्य का कारण होता ही है रोग का कारण (क) शारीरिक (ख) मानसिक (ग) शारीरिक-मानसिक (घ) मूल प्राकृतिक—बाहरी—होते है : देखना है क्या था। अगर (क) (ग) (घ) मे से नहीं तो (ख) में ढूंढ़ना है !

(३) परीक्षा के आगे या उसी समय दो श्रेणी के विद्यार्थी प्रायः बीमार पड़ते हैं—'flying to illness'—पहले, वे जिनमें fail करने का डर है पर अपने अहंकार के कारण फेल होना बर्दाश्त नहीं होता, उनका मन बीमारी का सहारा होता है ; और दूसरे, अच्छे विद्यार्थी—जिन्हें अपने place का खयाल हो,

division या प्रथम द्वितीय होना ! उसमें सन्देह होने पर मन भागता है—बीमारी की शरण में !—यह है मानसिक ! ! तुम्हारे "अचेतन मन" क्या जाल रच रहा था देखना होगा—अगर शारीरिक कारण न रहा !

(४) यह "अभागी" आदि बात क्या दिखाती ? तुम अपने अन्दर दोष या पाप देखती हो—वरना किसने तुमको कहा जिसके खिलाफ तुमको अवाज उठानी पड़ रही है ? तुम तुम हो, अगर डर से ही वैसा हुआ हो तो हंसना चाहिए ! वाह रे वाह ! फिर सचेत होना है ! (४)-(५) में क्या भाव है ?—तुम अपने पर खुश नहीं हो, अपने को जिम्मेदार देखती हो और उसे स्वीकार नहीं कर पाती ! क्यों रे पगली ? तुमको जो कुछ करना है करोगी—अपनी शक्ति और संगति के मुताबिक करोगी ताकि मन कहता रहे—हां किया, जहां तक कर सकती थी ! मन खुश, आनन्दित, प्रसन्न रहेगा !

छोड़ो सब बखेड़ा : अपने में रहो ! आनन्द में रहो : बस, दुनिया तुम्हारे हथेली में है ! ……

—अपने में रहो, झूट मिथ्या अपने को कोसना नहीं—

प्र०

प्रसाद, ११-१०-५६

शुभाशीर्वाद,

……देखो, मैया, जीवन एक "धारा" है—चलती रहती है—अबाध अविच्छेद्य रूप से—कहीं ठहरती नहीं—उसे एक जगह पर ठहरा लेने में सब गड़बड़ी है—चलती चलो, चलती चलो— जो हो गया उसे हो गया देखो—उसे और अब—यहां न घसीटना ; फिर अब उसी के अनुभव के आधार पर समृद्ध हो कर अब अभी—यहां चलो ! हमेशा ताजी हमेशा खुश—हमेशा आनन्द में क्यों कि हमेशा अपने आप में ! !

अतीत हो गया, अब नहीं है, फिर भविष्य भी होगा, अब नहीं है ! तब ? "है" क्या है ? जो अभ यहां, बस ! !

याद रखना, धारण करना है ताकि वह अपना बन जाए—जाने, न-जाने उसी भाव का काम हो ! याद करो, पहले के पत्रों को पढ़ो, सब ठीक रहेगा—चलो—चलो, चलो, कहीं भी ठहर नहीं जाना है सिर्फ एक ही ध्वनि निकले कि मैं कर रही हूं ! मैंने किया था, या मैं करूंगी यह दोनों ही मिथ्या है जो, छोड़ो उन्हें—सिर्फ "करो", करो, करो।

अपने आप में रहो आनन्द से रहो।—

प्र०

प्रसाद, २७-१०-५७

शुभाशीर्वाद,

...... "अच्छा-बुरा कैसे हटाऊं ?"...."सीधा कैसे देखूं ?" —कैसे ? अच्छा बुरा किसके लिए ? तुम्हारे लिए जो अच्छा-बुरा दूसरों के लिए भी वही ? हां कुछ अच्छा-बुरा प्राय. एक समाज में सबों के साथ समान है। सब ओर से देखो,—अच्छा बुरा निर्भर करता है बाहर के उपर स्थान-काल-पात्र-परिस्थिति के उपर ! तुम अच्छा-बुरा लेकर जन्मी थी, या लड़कपन में भी वह क्या था ? नहीं न ? तब ? वह आया बाहर से, और यह बाहर माता-पिता से शुरू कर समाज तक जाता है न ? बाहर से लेते लेते वह तुम्हारा मानो अपना हो गया ! बल्कि उसे छोड़ कर तुम्हारी हस्ती ही नहीं ! तब ? वह अच्छा-बुरा बाहर का है : बाहर से उसका संबंध है——जब बाहर से सम्पर्क होगा तब उसी के अनुसार करना—पर अपने अन्दर ? कुछ नहीं ! यही मन में दृढ़ करो—जो कुछ भाव आप से आप हृदय से उठते है वे सब ही स्वाभाविक है—natural है—घबड़ाना नहीं—

प्र०

आश्रम, २८-४-५९

शुभाशीर्वाद,

तुमने जो कुछ लिखा सब ठीक ही लिखा। प्यार की चाह हर व्यक्ति बल्कि हर प्राणी, पशु-पक्षी, वृक्ष-लता,—सबों के अन्दर है—प्राण की स्फूर्त्ति और विकास उसी से ही है। यह प्यार की इच्छा स्वाभाविक है, प्राकृतिक है। रही बात व्यावहारिक सत्य की। प्यार की चाह की तृप्ति होती है बाहर से। बस, उस 'बाहर' की अनुकूलता कहां तक है, उसे देखने की और तदनुसार अपने को लगाने की शक्ति में ही मनुष्यता है: इस व्यावहारिक सत्य को, 'जो-है' उसे देख कर मंजूर कर, स्वीकार कर चलने की शक्ति हो तो जीवन आनन्दमय सुखी हो, वरना विपरीत फल है—जीवन विडम्बनापूर्ण हो जाता है—दुख-हाहाकार-मनस्ताप !! 'जो है', 'जो हो रहा है'—इसे न देख कर, न स्वीकार कर 'ऐसा होवे'—यह जो भाव वही दुख का जड़ है। 'होवे'—अपने मन की प्रियता के अनुसार ही 'होवे' !!

तुम्हारे मन का यह 'रूप'—अपने में प्यार का अभाव देखने का फल है; अपने में **कमी** देखना ! दूसरों से मिलाना !—तुम तुम हो,—दूसरों से मिलाना, compare करना व्यर्थ है, बेमानी है,—क्योंकि सब अलग है, सब अपने आप में है—किसी के समान नहीं है : दो समान वस्तुओं में comparison हो सकता है !

प्र०

आश्रम, १७-३-६५

शुभाशीर्वाद,

......और मइया, हां, तुम्हारी "सीमा" की बात बड़ा ही सुन्दर है क्योंकि सत्य है—"अब तक पूज्यवर के आशीर्वाद से ही पूरी रूप से पली"—ठीक ही तो है मां ! किस तरह तुम्हारे दिल दिमाग-देह को पूरी तरह खिलाने की चेष्टा रही, तुम तो मिल गयी थी, मां ! इस लिये हमेशा तुम स्वामीजी के पास रहती हो, तुम स्वामीजी से घिरी हुई रहती हो ! यह कभी न भूलना। ठीक है—

"हमें बड़ा ही सन्तोष है मैं अपरिमित शक्ति और सुरक्षा, पूज्यवर के आशीर्वाद के पास हूं!" हां, मां, हां। उसी आशीर्वाद से घिरी रह कर अब तुम्हारे पास जो भी परिस्थिति आवे उसे अपना लो, कभी दूसरा-कुछ सोचना नहीं है—जो है उसे ही देखना।

जब ही सुविधा कर सकोगी तब ही आना—"किसी तरह की सेवा नहीं की हमने···" पगली, तुमने अपने बारे में जो कुछ लिखा उससे बढ़कर और क्या सेवा हो सकती रे? बाहर से सेवा और अपने को देकर सेवा, स्वामीजी का अपना हो कर सेवा—दोनों में क्या अन्तर, मंइया? देखो, देखो, सोचो नहीं।

अ०

मसूरी, २६-६-६८

शुभाशीर्वाद,

······ मंइया, तुम्हारी मूल बात यह है—
"कैसे सामंजस्य रखूं"!

यह सामंजस्य है क्या? तरह तरह के लोग, तरह तरह के मन को एक साथ जुटा कर रखना—यही न है? तब? अपने मन, अपनी रुचि के अनुसार जब कुछ करने जाओगी तब "बाहर" दूसरे को देख नहीं सकोगी—सिर्फ अपने रंग से ही सोचोगी—तब नतीजा क्या? विरोध, संघात!! तुम्हारी इच्छा, तुम्हारा आदर्श—तुम्हारे अन्दर है, पर काम होगा कहां?—"बाहर"!! तब? इस "बाहर' के अनुसार या इस "बाहर" के अविरोध होने पर ही काम होगा न? तब? "बाहर" जैसा है—उसे देखना-जानना पड़ेगा ही और इस "बाहर" की विविध रूपों की भिन्नता को देखना-जानना—स्वीकार करना ही पड़ेगा न, मां? वह "इस रफ्तार से बाहर की ओर जा रहा है"—जब जा रहा है कहती हो तो उसे स्वीकार भी करो—उसे "अस्वीकार" क्यों, उसे "न होना चाहिए"—सोचना क्यों?

हां, जब दो भिन्न हैं ही—प्रकृति का नियम ही यह है—जब "दो" कभी "एक" ही नहीं हो सकते—तब? जहां तक हो सके—

आश्रम, २८-४-५६

शुभाशीर्वाद,

तुमने जो कुछ लिखा सब ठीक ही लिखा। प्यार की चाह हर व्यक्ति बल्कि हर प्राणी, पशु-पक्षी, वृक्ष-लता,—सबों के अन्दर है—प्राण की स्फूर्त्ति और विकास उसी से ही है। यह प्यार की इच्छा स्वाभाविक है, प्राकृतिक है। रही वात व्यावहारिक सत्य की। प्यार की चाह की तृप्ति होती है बाहर से। बस, उस 'बाहर' की अनुकूलता कहां तक है, उसे देखने की और तदनुसार अपने को लगाने की शक्ति में ही मनुष्यता है : इस व्यावहारिक सत्य को, 'जो-है' उसे देख कर मंजूर कर, स्वीकार कर चलने की शक्ति हो तो जीवन आनन्दमय सुखी हो, वरना विपरीत फल है—जीवन विडम्बनापूर्ण हो जाता है—दुख-हाहाकार-मनस्ताप !! 'जो है', 'जो हो रहा है'—इसे न देख कर, न स्वीकार कर 'ऐसा होवे'—यह जो भाव वही दुख का जड़ है। 'होवे'—अपने मन की प्रियता के अनुसार ही 'होवे' !!

तुम्हारे मन का यह 'रूप'—अपने में प्यार का अभाव देखने का फल है; अपने में कमी देखना ! दूसरों से मिलाना !—तुम तुम हो,—दूसरों से मिलाना, compare करना व्यर्थ है, वेमानी है,—क्योंकि सब अलग है, सब अपने आप में है—किसी के समान नहीं है : दो समान वस्तुओं में comparison हो सकता है !

प्र०

आश्रम, १७-३-६५

शुभाशीर्वाद,

······और मइया, हां, तुम्हारी "सीमा" की वात बड़ा ही सुन्दर है क्योंकि सत्य है—"अब तक पूज्यवर के आशीर्वाद से ही पूरी रूप से पली"—ठीक ही तो है मां ! किस तरह तुम्हारे दिल दिमाग-देह को पूरी तरह खिलाने की चेष्टा रही, तुम तो मिल गयी थी, मां ! इस लिये हमेशा तुम स्वामीजी के पास रहती हो, तुम स्वामीजी से घिरी हुई रहती हो ! यह कभी न भूलना। ठीक है—

"हमें बड़ा ही सन्तोष है मैं अपरिमित शक्ति और सुरक्षा, पूज्यवर के आशीर्वाद के पास हूं!" हां, मां, हां। उसी आशीर्वाद से घिरी रह कर अब तुम्हारे पास जो *भी परिस्थिति आवे उसे अपना लो,* कभी दूसरा-कुछ सोचना नहीं है—जो है उसे ही देखना।

जब ही सुविधा कर सकोगी तब ही आना—"किसी तरह की सेवा नहीं की हमने···" पगली, तुमने अपने बारे में जो कुछ *लिखा उससे बढ़कर और क्या सेवा हो सकती* है? बाहर से सेवा और अपने को देकर सेवा, स्वामीजी का अपना हो कर सेवा—दोनों में क्या अन्तर, मंइया? देखो, देखो, सोचो नहीं।

प्र०

मसूरी, २९-६-६८

शुभाशीर्वाद,

······ मंइया, तुम्हारी मूल बात यह है—
"कैसे सामंजस्य रखूं"।

यह सामंजस्य है क्या? तरह तरह के लोग, तरह तरह के मन को एक साथ जुटा कर रखना—यही न है? तब? अपने मन, अपनी रुचि के अनुसार जब कुछ करने जाओगी तब "बाहर" दूसरे को देख नहीं सकोगी—सिर्फ अपने रंग से ही सोचोगी—तब नतीजा क्या? विरोध, संघात!! तुम्हारी इच्छा, तुम्हारा आदर्श—तुम्हारे अन्दर है, पर काम होगा कहां?—"बाहर"!! तब? इस "बाहर' के अनुसार या इस "बाहर" के अविरोध होने पर ही काम होगा न? तब? "बाहर" जैसा है—उसे देखना-जानना पड़ेगा ही: और इस "बाहर" की विचित्र रूपों की भिन्नता को देखना-जानना—स्वीकार करना ही पड़ेगा न, मां? वह "इस रफ्तार से बाहर की ओर जा रहा है"—जब जा रहा है कहती हो तो उसे स्वीकार भी करो—उसे "अस्वीकार" क्यों, उसे "न होना चाहिए"—सोचना क्यों?

हां, जब दो भिन्न हैं ही—प्रकृति का नियम ही यह है—जब "दो" कभी "एक" ही नहीं हो सकते—तब? जहां तक हो सके—

दूसरे के अनुसार अपने को मोड़ना ही है क्योंकि उसके साथ चलना है। बस—इस तरह इस "भिन्नता का सत्य"—को देखना-स्वीकार करने की कोशिश करनी ही है।......

चलो, मां, चलो,—घबड़ाना नहीं,—

प्र०

आश्रम, १५-४-६६

शुभाशीर्वाद,

देखो, मां, सत्य बहुत ही सरल, सरल न होने से वह सत्य ही नहीं हो सकता,—और इस सरल सक्ष्य को बिना देखे और स्वीकार किये जीवन में शक्ति, सुख, मेल आदि कुछ भी नहीं मिल सकता :

सत्य का क्या अर्थ है—जो है ! तब व्यवहार में क्या सत्य ? **अभी यहां** जो है !! तुम्हारा क्या काम है ? इस सत्य के साथ **अपने को मिलाना** न कि अपने मन के रूप में उस सत्य को मोड़ने की **इच्छा** !!

तब ? है क्या यह ? व्यवहार में जब "तुम" हो तब "वह" भी है—तुम तुम और वह वह है !!—"हम दोनों के विचार में ही सोचने के तरीके में ही इतना **अन्तर** है कि उनका ठीक हमें ठीक नहीं लगता और हमारा उन्हें नहीं।" सही,—सिर्फ विशेषता क्या है ? "अन्तर" तो है ही, अन्तर तो प्रकृति का नियम है, पर सिर्फ यही है कि यह "अन्तर" कुछ ज्यादह है !! तब ? करना क्या है ?—"मान लेती हूं", "सह लेती हूं"—और "सहते सहते"—"दुःख, विद्रोह, असन्तोष सब होता है।" क्यों ? क्योंकि तुम्हारा काम "**अस्वीकार**" का फल है : "मानना", "सहना"—इनमें क्या भाव है ? **चाहती नहीं तो भी करना पड़ता है**, क्योंकि अपने मन के अनुसार ही सब हो—यह असत्य धारणा जड़ में ही है ! देखो, मां, जब "इतना अन्तर" है कहती हो तो उसे देखना और स्वीकार करना ही सत्य है,—उससे अलग "**दूसरा कुछ**" तुम जैसा चाहती—वैसी आशा न करना—"है यही," "दूसरा कुछ तो हो नहीं

सकता"—सिर्फ इतना ही देखने और स्वीकार करने में दिल का भाव ठीक रहेगा, पर करना ?! जहां तक तुमसे हो सकता वहीं तक करने में रहना,—उससे ज्यादह करने की कोशिश न करना—क्योंकि वैसा हो नहीं सकता, इसलिये वैसी आशा ही नहीं करनी है!! हां, मैं इतना ही कर सकती हूं—इससे ज्यादह दूसरे आशा अगर करें तो मैं तो लाचार हूं!! इतनी स्पष्टता रखने की कोशिश करो—यह सब हृदय-बुद्धि में!!

फिर भी "समय" का एक तकाजा है न, मां? आज का 'युग" एक विद्रोह का युग, वैमनस्य का युग, बेमेल का युग, प्रेमहीन, स्नेहहीन, क्षुद्रस्वार्थपरता का युग है,—कोई किसी के प्रति नहीं देखता, किसी के प्रति लेहाज नहीं!! यही है—इसे स्वीकार करना ही है—क्योंकि "दूसरा-कुछ" नहीं हो सकता—तुम्हारा भाव तुम्हारा अपना, वैसा दूसरों से कैसे आशा कर सकती?

सिर्फ इतना देखो, और कभी-कभी जब विपरीत भावों के बोझ का दबाव मालूम हो तो उसे भी सुविधानुसार निकाल देने की, रो लेने की कोशिश करो,—दिल-दिमाग स्वस्थ रहेंगे—

प्र०

आश्रम, १२-३-७०

शुभाशीर्वाद,

देखो, मां, तुम्हारी इस तरह की विवशता का मूल कारण क्या है—तुम्हारी आशा दूसरों से!! यह "आशा" सम्पूर्ण रूप से असत्य, अलीक, क्योंकि दो भिन्न होने के नाते, अपना छोड़कर दूसरों के लिए कोई देख ही नहीं सकता!! फिर दूसरे न हो तो रहा भी नहीं जाता! यही तो है विडम्बना!! तब कैसे चले? काम कैसे करे, दूसरों के लिये, दूसरों के साथ कैसे निभाये?

हां, जब दूसरे न होने से मेरी गति नहीं है तो दूसरों को देखना जानना मेरी गर्ज है—जहां तक हो सके!! मैं जहां तक समझ सकी वहां तक किया, इतना ही मेरे हाथ में है, इससे ज्यादह नहीं कर सकता—जहां तक करना था वहां तक किया बस!

दूसरे अगर खुश न होते तो मेरा वश नहीं है, क्यों खुश नहीं हुए इसका कारण देखकर जहां तक हो सके उसका सुधार करने की कोशिश—बस ! और कुछ नहीं—इतनी दृढ़ता आना है और वह दृढ़ता आपसे आप आयेगी अगर दिल-दिमाग देख ले कि जहां तक करना था वहां तक किया, इससे ज्यादह और नहीं हो सकता था ! ! फिर जो जैसा है वैसा ही चाहेगा, यह तो उनके ऊपर है, मेरा कोई हाथ नहीं ! !

सिर्फ इतना ही देखो, ना ! ! हृदय तृप्त रहेगा, अछूता रहेगा—

स०

आश्रम रांची, २३-९-७०

शुभाशीर्वाद,

......अरे भइया, स्वीकार करो, स्वीकार करो ! ! "स्वीकार" करना क्या है ? अपनाना, अपना करना, बाहर पराया न-रखना ! ! यानी—"हां" कहना ! ! "न" नहीं ! सो कैसे ? देखो—कुछ घटना घटी, किसी ने कुछ कहा या किया, यही न ? तब ? करना क्या है ? पहले देखना क्या है ?—घटना "घटी", "कहा" या "किया"—यही न ? हुआ यही न ? तब ? जब "हुआ" ही तब और-दूसरा क्या हो सकता ? कुछ नहीं ! ! तब ? देखना है—यही हुआ, यही है—यह जो देखना, यह जो अनुभव करना—यह जो "हां ऐसा"—कहना—इसका नाम है—"अपनाना"—

स्वीकार !

क्योंकि दूसरा-और कुछ नहीं है :

दूसरी तरह से देखो :—अच्छा, ठीक है—ऐसा नहीं चाहते—बहुत अच्छा, तब उसे छोड़ दो—फेंक दो :

नहीं दे सकते—अगर,—तब ? उपाय क्या है ? लो ! ! बिना लिये कोई चारा नहीं है : तब ? जब छोड़ा नहीं जाता तब लेना ।—"हां ऐसा" ही है ! !

हर बात में, हर परिस्थिति में इसे लगाओ ;—दिल-

दिमाग शान्त रहेगा।

सब गड़बड़ी की जड़ मे है—

"न"

हालांकि "न" भी कहना और साथ रहना भी !! विडम्बना है न, मां !!

—स्वीकार करो और उसके बाद कुछ करने का हो तो जहां तक समझ-शक्ति वहां तक करो,—फिर वही स्वीकार: बस इतना ही कर सकती थी, उतना ही किया, फिर जो हो !! उस पर और मेरा "हाथ" नही है। उससे ज्यादा कुछ नही !!

आराम, निश्चिन्तता,—
क्यों घबडाओगी, मां,—
आराम से रहो—
स्वीकार करो—
"न" कभी जीवन में आने न दो—
Be and accept—
no denial !

प्र०

आश्रम, २०-४-७१

शुभाशीर्वाद,

..... मा रे, तुम्हारे ऊपर कितना बोझ है—यह स्वामी जी पूरा देख रहे हैं, दूसरे कोई नही है—जिससे बात कर सको, सलाह कर सको—सब कुछ ही अपने ऊपर अकेली लेकर चल रही हो, मां ! यही तुम्हारा है,—तुमको हर तरह से पीट-पाट कर पक्का करने के लिये ही यह परिस्थिति आयी। जो आयी सो तुम्हारी ही है: तुमको मौका देने के लिए सब कुछ आ रहे हैं ताकि तुम अपने में भरा रह कर दृढ़-स्थिर हो सको—

लो, मां, लो, जो आता—जाता है, उसे लो,—कही भी "न" नहीं है—denial नही—स्वीकार,—हां, यही !!

प्र०

आश्रम रांची, ६-६-७१

शुभाशीर्वाद,

वहां पर वाराणसी के चंचल वातावरण के बाद अवध को इतना आराम लग रहा है, इस तरह अपने को घर में आनन्द के साथ फैला रहा है, बच्चे भी खुश हैं—इससे बढ़ कर अच्छी बात और क्या हो सकती, मां !! इसके केन्द्र में आनन्दरूपिणी कल्याण-मयी—शक्तिरूपिणी तुम !! कितना भाग्य कितनी सुकृति तुम्हारी है मां !! भर जाओ फैल जाओ !! और इसका प्राण कहां है ? **"मेरा" में—सब मेरा है** !! क्यों ? जैसे चलने में ! देखो न, मां, जाहिर है कि चलना काम है पैरों का, यही न ? तब **सिर्फ** पैरों का ही काम हो, पर सारा शरीर ही तो **चलता है न** ? कैसे ? क्योंकि हाथ, पैर, आंख, कान आदि सब ही एक साथ बंधे हुए हैं, बल्कि सब अपना अपना काम करते हैं, आंखें न देखें, कान न सुने तो सिर्फ पैर क्या कर सकते ! चलना सार्थक होगा क्या ? गढ़े में गिर जाना, दूसरों से टक्कर लगना—कौन बचाएगा ? पैरों के साथ सब अंग अपना अपना काम करते हैं—पैरों का काम है चलना—वही करे हमें क्या ?—यह तो कोई नहीं कहता, सब अंग **चलने को अपना हो, "मेरा"** ही काम अनुभव करते हैं—तब ही काम पूरा, सार्थक, निरापद होता है : विभाग नहीं, विच्छेद नहीं, आपस में झगड़ा नहीं !! वैसे ही भीतर का काम ! मनुष्य के दो अंग, दो "करण" हैं—वहिष्करण और अन्त:करण, वहिरंग और अन्तरंग, यानी शरीर और मन !! जैसे शरीर में एकाधिक अंग हैं—हाथ-पैर-आंख-कान आदि, वैसे ही—अन्त:करण में भी एका-धिक अंग हैं—मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार या वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान। तब जैसे शरीर का काम कहने से—शरीर के सब अंगों के काम एक ही साथ होता है, तब ही काम पूरा होता है—वैसे ही भीतर का काम कहने से भी उसके सब अंगों का काम सन्निवेशित होता है—मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार—सब ही एक साथ "मेरा ही काम है"—यह अनुभव करने से काम पूरा सार्थक—सुन्दर होता है—सिर्फ "बुद्धि" ही नहीं, सिर्फ "चित्त" ही नहीं, सिर्फ "कर्तव्य" बुद्धि ही नहीं या सिर्फ "भावना" की हृदय-वृत्ति ही नहीं···!! बुद्धि

देख समझ ले—भाव कहे, हां यही ठीक है और अहंकार कहे, हां यही मेरा काम है—तब ही काम की सार्थकता है—कोरी बुद्धि तो machine है, कोरी भावना तो पागलपन है !! और कर्तव्य शब्द ही मनुष्य के लिए मर्यादाहानिकर, undignified है—इसमें एक "बाध्यता" obligation, compulsion है !! दासता है।—"मेरा" नही है, मेरा "धर्म"—privilege नही है !! संक्षेप में देखो मां !! फिर विस्तार से लो !! "कर्तव्य" नही "धर्म" है। धर्म समझना है ।

प्र०

आश्रम रांची, ७-१०-७१

शुभाशीर्वाद,

अब आवो ! अरे पगली,—"मैं परिवार के बीच आनन्द-रूपिणी, कल्याणमयी कहां तक हूं इसमें ही अब विश्वास नहीं होता।" तब वहां रहती किस लिए मां ? किसने बांध कर रखा तुम्हें ? कोई नही ; तुम ही रहती हो, क्यों रहती हो ? वह काम यदि तुम्हारा नही तब उसे छोड़ दो; "नही छोड़ पाती हूं" !! क्यों ? दूसरों को तकलीफ होगी—होवे—तुमसे इसका क्या वास्ता ? वह तकलीफ सहन नहीं होता तुम्हें; इससे तुमको "अच्छा" नहीं लगता—तुम्हें खुशी नहीं होती—यही न ? हां, यही—कोई किसी के लिए कुछ भी नही करता, कर नही सकता—सिर्फ अपने लिए ही करता !! यही है अटल सत्य ! वह मेरा है !! इस मेरा भावना से ही—आनन्दरूपिणी, कल्याणमयी !! यही सत्य है,—सब तुम अपने लिए करती, अपने आनन्द के लिए ही करती—दूसरे सिर्फ तुमको मौका opportunity देते हैं करने के लिए—अपनाने के लिए !! क्योंकि दो रहने से ही संघात conflict !! देखो मां देखो केवल आनन्द ही आनन्द है।—फिर "कर्तव्य" नही—"वृत्ति" !! अपना "सहज काम" अपना सहज अभिव्यक्ति, अपना सहज प्रकाश !! "अपना" है, "मेरा" है—"कर्तव्य" मेरा नही, वह है "पराया", इसलिए अधीनता, बाध्यता, compulsion !!

पर "वृत्ति" अपनी खुशी का प्रकाश !! जैसे—

स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतौ
प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवम्विधैव।

—(अभिज्ञान शाकुन्तलम् में राजा के प्रति) स्वसुखनिरभिलाषः—अपने सुख की अभिलाषा न रख प्रतिदिन, हर रोज हमेशा लोगों के लिए खटते हो, तकलीफ उठाते रहते हो—अथवा तुम्हारी **वृत्ति** ही इस तरह की है !! अपना काम—सहज प्रकाश !! "मेरा" भावना का **अनिवार्य फल** है !! बच्चे सब अपने काम में, अवध भी, सब खुशी का प्रकाश हो; "मेरा" काम हो !!—

Hindu religion : देखो मां, आजकल यह चल रहा है, पर Hindu religion नाम की कोई वस्तु ही नहीं है—है सनातन धर्म—सनातन—शाश्वत—eternal, कहीं संकीर्णता नहीं है—राधाकृष्णन् की किताबें देखो—स्वामी जी दूसरी बातें ही कह सकते हैं जो भारत की आत्मा की पुकार है—वह साधारण नहीं है न ! वह साधारण पाठन में कैसे चलेगा !

प्र०

आश्रम रांची, ८-१०-७१

शुभाशीर्वाद,

कल तुम्हारे पास एक पत्र गया, जिसमें Hindu Religion पर कहा गया : पर अभी देखा जा रहा है कि 'सत्यरूप' कहना अच्छा है—तुम देखो :

'Indian life and Hindu Religion'.

Before going to Hindu Religion, one should know or posit the word 'Hindu' first simply because there is no religion as 'Hindu' Religion. It is a later misconception. 'Hindu' originally denoted the inhabitant of Hind or Ind or India : this was the description given by foreigners ; for recent use, even in America fifty or sixty years

ago, every inhabitant of India, or in other words, every Indian used to be called a Hindu. Later on this word is being used to differentiate from Muslim, Buddhist, or Christian etc. There is no religion called 'Hindu'. Here the word is 'Dharma'—the cohesive principle—'that which binds, or makes an existence possible—'धारणाद् धर्म इत्याहुः'! and in India, this **Dharma** has two aspects; scientific and artistic: the first defines the fundamental principle of life or nature or existence and the second shows the way to realize it. And hence the fundamental Truth or Reality is given as—

One without a second

एकमेवाद्वितीयम्

Truth or Reality is one; but the wise describe IT in various ways.

(There are **different** expressions only—→ passing expressions.)

एकं सत् विप्राः बहुधा वदन्ति ।

All these are verily equal, all are verily Infinite:

त एते सर्व एव समाः सर्व एव अनन्ताः ।

And what is the signification of this Reality in life, nature and the world?

Everything is verily, really BRAHMAN

सर्वं खल्विदं ब्रह्म ।

This soul is BRAHMAN

अयमात्मा ब्रह्म ।

That Thou art

तत्त्वमसि ।

I am BRAHMAN

अहं ब्रह्मास्मि।

All-awareness and Infinitude is BRAHMAN

प्रज्ञानमनन्तं ब्रह्म।

And this is minuter than the minutest and greater than the greatest—

अणोरणीयान् महतोः महीयान्।

Without any distinction of any kind : **all are equal.**

And **the way** to realise in life : four ends or aims of life :

धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष

Social cohesion—wealth—desire—emancipation

Four stages in life—

Student—householder—social worker—completely retired in search of self.

ब्रह्मचर्य-गार्हस्थ्य-वानप्रस्थ्य-सन्न्यास !

And four categories of men (according to their temperamental attitude and aptitude)

ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र

Everything is only a passing phase of the eternal flux—संसार !! There is no finitude.

बहुत ही संक्षेप में : तुम विस्तार कर सकती :

प्र०

आश्रम ४-२-७२

शुभाशीर्वाद,

......अरे मंइया, बात क्या है ? स्वीकार करने में बहुत ही तकलीफ हो रही है, रे पगली ! क्यों रे ? हां, है सही, पर जब तुमने अपने शरीर को स्वीकार किया और उस स्वीकार के पहले

की और उसके बाद की तुम्हारी दिल-दिमाग की स्थिति को देखो—हालांकि स्वीकार करने में कितनी प्रचेष्टा करनी पड़ी ! तो पर भी जो है उसे तो दूसरा कुछ कर नहीं सकती जब, तब क्या करना ? मन का "दुराग्रह" ही सब अनर्थ का मूल है, सिर्फ 'मान्यता',—मानना-सोचना ! देखना' नहीं !! नहीं, मां, देख ले एक बार, तेरी सब ग्लानि-अंधेरा दूर हो जाए !! हां "रोज थोड़ी देर के लिए जो एकान्त पाकर आशीर्वाद लेती हूं उससे बड़ा बल मिल रहा है"—छोड़ दो अपने को, अपने सब आग्रहों, रागद्वेषों को, सब मूल्य-बोधों को,—हो जाओ बच्ची, सरल-निर्मल, दिल का सब भाव निकले !! फिर स्वस्थ होकर बाद को चलो—उस एकान्त का समय तुम्हारे लिए dynamo-charging है !! जबरदस्ती चाहना क्यों रे पगली—जो हो रहा है वह हो रहा है, अपने अनिवार्य "कारण" से जब, उसी को देखो, उसके साथ चलो—तुम "निश्चिन्त-बेफिक्र रहो, सबों के साथ—सबों के लिए ! भर जाओगी, मां !! जो करना करो।

उद्देश्य साफ हो और उसकी ओर स्थिर होकर चलो—यही सत्य व्यवहार है—स्वामी जी तुम्हारे अन्दर तुम्हारे साथ हमेशा हैं—घबड़ाने का क्या कारण है मां ? अपने को विभक्त होने न दो—अपने मे रहो—आनन्दमयी कल्याणमयी होकर रहो।

प्र०

आश्रम, २४-४-७२

शुभाशीर्वाद,

देखो, मा, हमेशा अपने को, अपनी स्थिति को देखकर ही काम में अग्रसर होना है, दूसरों को देखकर मुझे भी वैसा मिले, वैसा हो, सोचना असत्य है, क्योंकि दूसरों की स्थितिया अलग हैं, दूसरों के लिए जो संभव सो अपने लिये न भी हो सकता

बच्चों में परिवर्तन की बात : *यह तो स्वाभाविक ही है*—नयी परिस्थिति, नया परिवेश—इनका असर हो सकता, फिर भी अपने अपने विकास के ऊपर उनके परिवर्तन हो रहे हैं खासकर

व्यक्तिगत स्वतन्त्रता (!) आजकल के लिये सहज स्वाभाविक है, दिल, दूसरों के लिये feel करना—यह सब कम हो रहा है: इसे मान कर ही चलना है: पर तुम अपनी ओर से उन लोगों के प्रति ममत्व का मधुर व्यवहार रखो: तुम कितना feel करती हो यह उन्हें मालूम हो लेकिन ज्यादह नहीं: ज्यादह होने से यह लोग उसे show सोच सकते हैं। उन लोगों के इस उठती कौमार (adolescence) और तारुण्य (youth) के समय कुछ careful रहना है। तुम अपना ठीक रखो।……

अपने में रहो, माँ, आपे से बाहर न होना—

प्र०

आश्रम राँची, ६-८-३८

शुभाशीर्वाद,

……अरे माँ, जीवन के सब उलझनों का मूल कारण है —अस्वीकार, निराकरण—denial! किसका? "जो है" उसका! और साथ ही साथ एक मन-माना जगत् तैयार करता है जिसका नाम—"होना चाहिए"!!! तब नतीजा क्या होता है? विरोध उलझन, संघर्ष—मार-पीट, अशान्ति!!—"है" और "होना चाहिए" में अनिवार्य विरोध!!

"अपने आप में बहुत लड़ाई करती हूँ, इसी में सब कुछ महसूस करती जा रही हूँ"—

हाँ, माँ, हाँ, "लड़ाई" के बिना कुछ पाया नहीं जाता—पर यह लड़ाई की तीव्रता कम करने के लिये एक ही उपाय है—वही 'स्वीकार', निराकरण नहीं, denial नहीं। तब लड़ाई आसान होती है।

"सत्य असत्य का रूप ही कभी confused हो जाता है, धर्म, संस्कार, वेद सब confused हो जाता है, केवल 'हम'— यही एक दीखता है। बाकी सब मन को बहलानेवाला मालूम होता है और कभी मन कहता है इन सबके बिना जीवन क्या है?…… इन सब उलझनों को सुलझा कर मुक्ति पाऊं या अनजान बन कर।

अब इतनी दूर आकर अनजान बनकर blank होना संभव नहीं तो सुलझाने में बहुत थकान होती है।"—पर बिना सुलझाये दूसरा चारा कहां ? और थकान ? इसका कारण है वही "संस्कार" —जो संस्कार तुमको सबों से अलग separate विच्छिन्न कर रहा है। 'केवल हम' यही एक दीखता है।"—यही सही है, मां, इसे ही साफ देखना है। बाकी सब कुछ हो "तुम्हारी", मनुष्य की गृष्टि है : देखने की कोशिश करो, लिखने में बहुत लिखना पड़ेगा, तो पर भी सुस्पष्ट होने में कमी रह सकती।

"मुझे सबसे तकलीफ होती है—attitude देखकर जिसमें भावना अनुशासन का कहीं स्थान नहीं। झूठा अहंकार, मान—यही सब तो जड़ मूल है।" बात सही है—"तकलीफ होती है" तुमको और attitude है बाहर। जो 'बाहर" है उससे तुम्हारे "अन्दर" क्यों तकलीफ होती है, मां ? वह attitude, वह अहंकार—मान—तुम्हारे अन्दर तो घुस नहीं गये—वह तो है "बाहर"! "बाहर" दूर पर "आग" रहे और चावल का बर्तन दूर पर—क्या खाना पकेगा—पानी गर्म होगा ? नहीं, तो क्यों नहीं, मां ? कब पकेगा ? जब पास आवेगा—उसकी गर्मी बर्तन अपने में लेगा !! तब ? "बाहर" के attitude, तुम्हारे "अन्दर" तकलीफ ?। तुमने अपने अन्दर लिया, तब न ? यानी तुम अपना attitude बाहर देखना चाहती।—क्या है वह "बाहर" ? "बाहर" को अपने मन से बांधना चाहती—नतीजा क्या—खुद बंध जाती—a slave-keeper is himself a slave!!……"शायद अपने अपने समय अनुभव के साथ सब ठीक हो।"—हां, मां, हां !!

Make them free to develop, तुम्हारा काम स्नेह सहानुभूति—understanding के वातावरण से भर देना !!

देखो, मां, देखो—

आश्रम रांची, ६-१-७३

शुभाशीर्वाद,

स्वामी जी के आशीर्वाद तुम्हारे ऊपर हमेशा नित्य है ; यह तो तुम जानती हो, मां ! चलो, अपना काम आनन्द से करती रहो, अपने को विभक्त न होने देना। जो कुछ तुम्हारे पास है, आ-रहा-है वे सब कुछ तुम्हारे ही हैं—नहीं तो तुम्हारे पास नहीं आता ! !

आनन्द में चलो, मां, शक्तिरूपिणी आनन्दरूपिणी होकर रहो।......

चलो, मां, चलो—

प्र०

आश्रम रांची, ६-२-७३

शुभाशीर्वाद,

......देखो, मां, सब ही जब भिन्न है तब सभी के मत भी भिन्न हैं—दूसरे क्या कह सकते हैं ? सब कुछ सब कुछ—कुछ भी हिसाब नहीं है, तुम इस सत्य को भूलकर अपनी चाह के अनुसार दूसरा करे यह सोचती हो, इसलिये तुम्हारी यह अशान्ति ! ! जब तक तुम्हारे अन्दर यह चाह रहेगी तब तक तुम्हारी अशान्ति दूर नहीं होगी ! तब **करना क्या है** ?—यही सिर्फ एकमात्र देखना है तुम्हारे लिए ! परिस्थिति देखकर जहां तक हो सके **करो**—सोचो नहीं, सोचने का अन्त नहीं है—दूसरों से आशा न करो। व्यंग ? तुमको न जानकर जब कुछ कोई कहता है तब **किसे** कहता है—तुमको ?? नहीं, नहीं—तुम्हारा जो चित्र लोग अपने अन्दर अपने मन के अनुसार बनाता—**उसी** को कहता है—**तुमको नहीं** ! ! तब तुम क्यों घबड़ाओगी ?

तुम्हारा काम है सिर्फ **देखना**—"है क्या"—यह **देखना** और उसी के अनुसार अपनी **शक्तिभर करना**—बस और कुछ नहीं ! दूसरे क्या नहीं कह सकते ? सब कुछ सब कुछ ! उसके पीछे भागती रहोगी ? नहीं, मां, नहीं ! !

देखो, सोचो नही और करो—बस ! ! तुम्हारी शान्ति अटूट रहेगी।······

प्र०

रांची, १०-६-७४

शुभाशीर्वाद,

······देखो, मां,—सत्य बहुत ही सहज है और उस पर चलनेवाला जीवन भी सहज है : सत्य क्यों सहज है, रे मां ? जो है, जो हो रहा है—क्या यह सहज नही है ? तुम हो, अवध है, बच्चे है,—बाबुल है— तुम तुम हो, अवध अवध है—तुम अवध नही हो, अवध तुम नही—वैसे ही सब : तब ? अवध अवध जैसा करता, गुड़ी गुड़ी जैसा करती आदि : यही तुम देखो, स्वीकार करो, तब ? समस्या कहां ? समस्या आती है जब तुम वैसा न देख, अपने मन के अनुसार चाहती हो—वह वैसा करे, उसे वैसा करना चाहिए ! ! कैसे वह करेगा,—वह तो तुम नहीं है · वह वह है, वह जैसा चाहेगा वैसा ही करेगा—दूसरा-और-कुछ कर नहीं सकता : इसे तुम देखो,—अपने को देखो न, मां ! तुम दूसरे के मन के अनुसार कर सकती ?

क्यों घबड़ाना ? इतने दिनों से अवध के साथ हो क्या उसे अभी तक नहीं देखा, नहीं समझा ? कितना असहाय वह अपने अन्दर मानता है,—तुम्हारे बिना उसका चलेगा नही, प्यार, सहानुभूति, सहाय-आधार उसे चाहिए न ? तुम्हारी कितनी सुकृति है कि तुम्हें इतना करने का मौका मिला ! हां,—तुम अवश्य ही कह सकती—मैं इतना निरपेक्ष कैसे हो जाऊं—मुझे भी तो प्यार-आश्रय-निर्भरता-आदि चाहिए ! ! हां, मां, हां—जरूर ही चाहिए—सिर्फ वही बात —जो है, तुम्हारी परिस्थिति जो है, दूसरा कुछ नहीं हो सकता,—उसी के अन्दर जितना मिल सके उतना जरूर लो · इतनी ही बात है, न, मां ? "दूसरा-और कुछ" नही रे पगली—क्योंकि दूसरा-और-कुछ नहीं है—नहीं हो सकता —इतना देखना है।—और कुछ नही, मा ! देखो, देखो—

मां-पिताजी का आयु बड़ेगा अब या घटेगा ? जो हो रहा है—होवे—

तुम उसके साथ साथ चलो—उसमें जो कुछ कर सकती हो करो—और कुछ सोचना तो असत्य है,—और इस लिये वैसा सोचने से दुख ! !

देखो, मां, निर्भय रहो—आनन्द में रहो—

प्र०

आश्रम रांची, २१-७-७४

शुभाशीर्वाद,

देखो, मां, उपनिषद का आदेश है—

तरति शोकमात्मवित्

तरति (पार करता है) शोकम् ("शोक" को, बुद्ध का 'दुःख' को) आत्मवित् ("आत्मा" को "अपने" को जाननेवाला)। जो अपने को जानता है वह "शोक" के "दुःख" के पार जाता है। तब शोक कौन करता है ? जो अपने को नहीं जानता है—("जानना" मानी होना, होने से ही जाना जाता है)—जो अपने में रहता है, "अपने आप" होता है वही दुःख को, शोक को पार करता है—तब ? शोक दुःख किसको होता है ? जो "अपने" को नहीं जानता है—अपने में नहीं रहता है। तब ? "अपना" छोड़ और क्या है ? "बाहर", "दूसरा" ! ! जो "दूसरे" में रहता है—उसे शोक होता है—तब यह दूसरा आता कहां से ? देखो मां,—"मन" ही दूसरा बनाता है : कैसे ?

"तुम" हो और तुम्हारा "मन" है ! !

तुम क्या हो और तुम्हारा "मन" क्या है ? तुम तुम हो, सभी से भिन्न, जैसे सब कुछ ही भिन्न है—यानी सब ही "एक" "एक" है—दूसरा नहीं—सब वही है, सिर्फ वही है, केवल है unique है ! तुम तुम ही हो, सिर्फ केवल,—दूसरा कुछ नहीं। unique हो "अनन्य" हो—इसी को बुद्ध ने शून्य कहा है। इस हिसाब से सब ही केवल है—सिर्फ है, शून्य है—unique है—

"अनन्य"—अन्य-नहीं है—तब सब समान है, सबों में एक ही है—तुम्हारा समान है : तब यह "दूसरा" कैसे बना ? जब वही जो है उसे न देखकर दूसरा कुछ चाहता है, सोचता है : तब "जो है" और "जो—चाहता है"—दो हो गये—"मैं" कुछ हो गया—साथ ही साथ बाहर सब अलग अलग कुछ हो गये ! ! सिर्फ "कुछ" "कुछ" में विरोध ! ! क्यों ? क्योंकि एक कुछ अपने अनुसार सब कुछ चाहता है : —"एक कुछ"— "दूसरा कुछ" नहीं हो सकता—लेकिन चाहता है वैसा ! ! यही चाहनेवाला ही "मन" है : फल क्या ? चाहता है जो हो नहीं सकता ! ! शोक, दुख, वैमनस्य, बेचैनी आदि आदि ! !

"सूना मन, असहाय, अकेला मन
इनका चल रहा है"

उपाय ? वही "अपने आप" मे आना, अपने में रहना,— बाहर पर आश्रित न होना,— जहां जब जैसा है वैसा ही स्वीकार करना,—दूसरा-कुछ अभी नहीं है, हो नहीं सकता, इसे देखना—अगर हो सके तो करना—अभी "बनारस" हो सके तो वैसा करना, नहीं तो ? जो अभी है वही : विरोध नहीं है—शोक नहीं, आराम है ! ! साथ ही उस "सूना मन, असहाय अकेला मन" को भरने की कोशिश करना—किससे ?—प्यार से, सब कुछ है उसका दिखा देने से ! ! क्या नहीं है—सब ही है, खासकर तुम हो उसके लिये—यह दृढ़ निश्चय उसमें आये ! ! तब आपसे आप confidence आवेगा ! साथी, सहचर companionship चाहिए ! ! बनाना है ! ! ……

प्र०

[१९५४ में कभी

...... एक बात और कह देना उचित मालूम हो रहा है। वह है—भौतिकता, लौकिकता और आध्यात्मिकता के बारे में, जिसको लेकर काफ़ी गलतफ़हमी दीख पड़ती है। कुछ लोग अपनी क्षुद्र स्वार्थ-सिद्धि के लिये प्रचार के समय तो आध्यात्मिक—spiritual—कहते हैं पर जिनका विचार और आचार पूरी तरह भौतिक या लौकिक है, फिर दूसरी ओर ठीक उलटी बात।

Materialistic interpretation of history—इसमें 'materialistic' शब्द निरर्थक है, क्योंकि History की व्याख्या तो materialistic है ही, चूंकि History तो material है ही। तब क्या है material और क्या है spiritual ? जहां तक विषय का राज्य है वहां तक भौतिक या लौकिक राज्य है, अर्थात् जहां तक इन्द्रियों और मन की पहुंच है वहां तक material है, जो कि कारण-कार्य के अधीन है। और spiritual तो वह है जहां पर 'दो', या भीतर-बाहर, विषय-विषयी का भेद नहीं है—वह क्षेत्र "है" का क्षेत्र है। बाकी क्षेत्र तो "हो रहा है" का क्षेत्र है—सब कार्य स्थूल-सूक्ष्म, सब कुछ इस दूसरे क्षेत्र के अन्दर हैं। जहां तक 'कुछ' भी हो जिसे लेकर कुछ किया जा सके—ये **सब-कुछ** भौतिक-लौकिक—material है। इसे **पार करने पर** ही आध्यात्मिकता है। कोई छोटा-बड़ा है नहीं; जैसे बालक-कुमार-युवा वृद्ध से छोटे नहीं, वृद्ध उनसे बड़ा नहीं, सिर्फ़ विकास के स्तर का अन्तर है। स्कूल का लड़का कालेज के लड़के से छोटा—हीन—नहीं, कालेज का लड़का पाठ समाप्त करने वाले से छोटा—हीन—नहीं—जीवन के अनिवार्य विकास के सिर्फ़ स्तर के बाद स्तर हैं, जब तक न सब स्तरों का पार हो। जैसे कली से 'मटर', फिर फल का उदय, भिन्न भिन्न स्तरों के अन्दर से होते हुए फल पकता है, पक कर

अपने आश्रय वृक्ष से च्युत होता है, गिर पड़ता है। जब तक वृक्ष से संलग्न है तब तक तरह तरह के रूप हैं। फल की वह है एक स्थिति, और दूसरी स्थिति है वृक्ष से सारा रस लेकर उससे अलग होना। पहली स्थिति है भौतिक, और दूसरी है आध्यात्मिक। छोटा-बड़ा, महान-हीन की बात क्या है? माली जैसे वृक्ष की देखभाल करता है, यह जान कर कि फल फलेगा, बढ़ेगा, पकेगा, गिर पड़ेगा—उसी प्रकार जो समाज यह जान कर व्यक्तियों के जीवन की चालना करे कि वे हर तरह से अपने को विकसित करता हुआ एक दिन संसार से मुक्ति लेगा। 'संसार' संसरति, कुछ 'है' नहीं, कुछ 'रहेगा' नहीं—सब कुछ चल रहा है—अपनी पकने की स्थिति की ओर—जब कि वह अपने आप में आ जाएगा, दूसरों पर निर्भर नहीं रहेगा। सुतरां—

←—भौतिक———लौकिक—→

→ → → → → →
स्थूलतम, स्थूलतर, स्थूल———सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम

इसके बाद ही—

आध्यात्मिक

जिसका विज्ञान-सम्मत, प्रज्ञान-सम्मत श्रेणी-विभाग है चतुर्वर्ग में—

| काम—अर्थ—धर्म | ——————| मोक्ष |

भौतिक-लौकिक————————→आध्यात्मिक!

जो समाज इस 'मोक्ष' की ओर दृष्टि रख कर काम-अर्थ-धर्म की *व्यवस्था करता है, उसे 'आध्यात्मिक समाज' या आध्यात्मिक नींव पर अवलम्बित समाज कहा जाए, अन्यथा सब भौतिक या लौकिक है।* इस दृष्टि से आज के भारत का समाज भी कहां आध्यात्मिक है?

इसका स्पष्ट दिग्दर्शन उपनिषद् के मंत्र में है—भूत-लोक-अल्प: —matter—'यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति

[१९५४ में कभी

······एक बात और कह देना उचित मालूम हो रहा है। वह है—भौतिकता, लौकिकता और आध्यात्मिकता के बारे में, जिसको लेकर काफ़ी गलतफ़हमी दीख पड़ती है। कुछ लोग अपनी क्षुद्र स्वार्थ-सिद्धि के लिये प्रचार के समय तो आध्यात्मिक—spiritual—कहते हैं पर जिनका विचार और आचार पूरी तरह भौतिक या लौकिक है, फिर दूसरी ओर ठीक उलटी बात।

Materialistic interpretation of history—इसमें 'materialistic' शब्द निरर्थक है, क्योंकि History की व्याख्या तो materialistic है ही, चूंकि History तो material है ही। तब क्या है material और क्या है spiritual ? जहां तक विषय का राज्य है वहां तक भौतिक या लौकिक राज्य है, अर्थात् जहां तक इन्द्रियों और मन की पहुंच है वहां तक material है, जो कि कारण-कार्य के अधीन है। और spiritual तो वह है जहां पर 'दो', या भीतर-बाहर, विषय-विषयी का भेद नहीं है—वह क्षेत्र "है" का क्षेत्र है। बाकी क्षेत्र तो "हो रहा है" का क्षेत्र है—सब कार्य स्थूल-सूक्ष्म, सब कुछ इस दूसरे क्षेत्र के अन्दर हैं। जहां तक 'कुछ' भी हो जिसे लेकर कुछ किया जा सके—ये सब-कुछ भौतिक-लौकिक—material है। इसे पार करने पर ही आध्यात्मिकता है। कोई छोटा-बड़ा है नहीं; जैसे बालक-कुमार-युवा वृद्ध से छोटे नहीं, वृद्ध उनसे बड़ा नहीं, सिर्फ़ विकास के स्तर का अन्तर है। स्कूल का लड़का कालेज के लड़के से छोटा—हीन—नहीं, कालेज का लड़का पाठ समाप्त करने वाले से छोटा—हीन—नहीं—जीवन के अनिवार्य विकास के सिर्फ़ स्तर के बाद स्तर हैं, जब तक न सब स्तरों का पार हो। जैसे कली से 'मटर', फिर फल का उदय, भिन्न भिन्न स्तरों के अन्दर से होते हुए फल पकता है, पक कर

अपने आश्रय वृक्ष से च्युत होता है, गिर पड़ता है। जब तक वृक्ष से संलग्न है तब तक तरह तरह के रूप हैं। फल की वह है एक स्थिति, और दूसरी स्थिति है वृक्ष से सारा रस लेकर उससे अलग होना। पहली स्थिति है भौतिक, और दूसरी है आध्यात्मिक। छोटा-बड़ा, महान-हीन की बात क्या है? माली जैसे वृक्ष की देखभाल करता है, यह जान कर कि फल फलेगा, बढ़ेगा, पकेगा, गिर पड़ेगा—उसी प्रकार जो समाज यह जान कर व्यक्तियों के जीवन की नालना करे कि वे हर तरह से अपने को विकसित करता हुआ एक दिन संसार से मुक्ति लेगा। 'संसार' संसरति, कुछ 'है' नहीं, कुछ 'रहेगा' नहीं—सब कुछ चल रहा है—अपनी पकने की स्थिति की ओर—जब कि वह अपने आप में आ जाएगा, दूसरों पर निर्भर नहीं रहेगा। सुतरां—

←—भौतिक———लौकिक—→

स्थूलतम, स्थूलतर, स्थूल———सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम

इसके बाद ही—

आध्यात्मिक

जिसका विज्ञान-सम्मत, प्रज्ञान-सम्मत श्रेणी-विभाग है चतुर्वर्ग में—

| काम—अर्थ—धर्म | ———————— | मोक्ष |

भौतिक-लौकिक———————→आध्यात्मिक!

जो समाज इस 'मोक्ष' की ओर दृष्टि रख कर काम-अर्थ-धर्म की व्यवस्था करता है, उसे 'आध्यात्मिक समाज' या आध्यात्मिक नींव पर अवलम्बित समाज कहा जाए, अन्यथा सब भौतिक या लौकिक है। इस दृष्टि से आज के भारत का समाज भी कहां आध्यात्मिक है?

इसका स्पष्ट दिग्दर्शन उपनिषद् के मंत्र में है—भूत-लोक-अल्प: —matter—'यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति

तदल्पम्'— [देखिये 'विजानाति' तक भौतिक है] और भूमा, ब्रह्म आत्मा—spirit—यत्र तान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा। यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्।

और भी—

योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवं स देवानाम्—

सुतरां दो को लेकर जहां तक काम है वहां तक है पशु-राज्य या भौतिक-लौकिक राज्य। अपने आपका राज्य है अध्यात्म राज्य या मानव राज्य। इसी का व्यावहारिक स्पष्टीकरण या उपबृंहण है सावित्री या गायत्री में।

इसी सिलसिले में आप सहज ही देखें कि universal brotherhood of humanity आध्यात्मिक सिद्धान्त नहीं है, पर universal oneness of humanity है आध्यात्मिक, जिसका सुन्दर इंगित आपने किया है (Page: 16)—'A living realisation of our oneness with the persons we served.'

क्षुद्र स्वार्थ—personal interest—जिसका आधार—वह है 'स्थूल भौतिक'! Social or community interest जिसका आधार—वह है 'सूक्ष्म भौतिक'—धार्मिक। और सब बाहरी interest को छोड़ते हुए सिर्फ़ अपने निर्विषय interest मोक्ष की ओर दृष्टि रख कर उसी के आधार पर चलते हुए social or community interest के अधीन रह कर जो चलना है वह है आध्यात्मिक या spiritual. 'त्यागेनैकेनामृतत्वम्।' त्याग होने से, न कि त्याग करने से, छुट जाने से, न कि छोड़ने से—यही प्रधान स्मरण रखने की बात है।

[लगभग १९५५

ईशोपनिषत् की विद्या-अविद्या के बारे में आपको लिखने के पहले तत्व के मूल आशय की परिचिति होनी ठीक लगता ताकि पूर्ण का ज्ञान होने से तथाकथित अंशीभूतों का सन्निवेश उसके अन्दर आसानी से कर सकेंगे :

प्रथम मंत्र का अन्वय यों है :

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन, भुंजीथा:, मा गृधः, कस्यस्विद्धनम् ?

जगत्यां यत्किंच जगत् अस्ति तदिदं सर्वं ईशावास्यम्।

—चलन में, परिवर्तन में जो कुछ भी परिवर्तन यानी चलन है—(जगत् = गच्छति इति जगत् = चल रहा है) ये सब कुछ ही ईश से यानी अनिवार्य, अनवच्छिन्न एक शासन, एक संहृति से ओत-प्रोत है : इसलिये त्याग के साथ भोग करना, लोभ नहीं करना, धन किसका है ? [साधारण टीकाओं में है—किसी के धन का लोभ नहीं करना]

इस मंत्र का आशय क्या हुआ? एक अनवच्छिन्न भेद-रहित सत्ता है; जो कुछ भी मालूम हो रहा है वह है नहीं . वह सब कुछ ही हो-रहा-है, एक धारा ही है, परिवर्तन ही है [जगत, संसार= समरति=सर सर खिसकना है] मुतरा कुछ [देश काल में अवच्छिन्न, अलग अलग] नहीं है। पर कुछ तो मालूम हो रहा है न?

"मैं", "तुम", "वह", आदि का भेद तो मालूम हो रहा है। तब क्या किया जाय ? "मैं कुछ हूं"—यह बोध तो हो रहा है, मुतरां साथ ही साथ "चाहता हूं" भी।

तब ? हा जब चाहते हो तो लो, भोग करो, चाह नहीं मिटने से तो कुछ नहीं होगा। [भूखा कुत्ता क्या करेगा ?]—पर किस दृष्टि से लोगे ?

⟶भरा-भरा=पूर्ण ⟵
⟶छोटे 'कुछ' को भर⟶
कर 'सब कुछ' करना है।

[अनन्त चाह—अनन्त वासना
क्यों है ? क्या कारण है ?]

तुम तो कुछ हो ही नहीं, मालूम हो रहे हो सिर्फ़, बदलते ही जाते हो, बदल हो रहे हो—वैसे ही सब कुछ—सब ही तो एक हैं। जब तुम अपने को 'कुछ' माना तभी तो उस एक से अपने को अलग किया, उस एक की हिंसा † की, उसे काट दिया, दो कर लिया न ?

लो तुम—किसलिये लेना ? तुम जो अपने को अलग मान रहे हो उससे मुक्त हो जाने के लिये। इसके लिये ही तुम्हारी यह जीवन धारा ‡; सुतरां हालांकि तुम अपने को अलग मान रहे हो और उसी के आधार पर काम तुमको करना ही पड़ेगा, पर तुमको हमेशा याद रखना है कि तुम वही एक ही हो—सुतरां लेने से जो अलगपन होता है उसे काटो— दो : उसी एक को सुप्रतिष्ठित करते चलो :—

देना, तभी लेने का अधिकार

'दो' तो 'लो'—न देने से लेने का अधिकार तुमको नहीं है। क्योंकि लेना तो उसी के लिये ही है कि तुम वही हो जाओ। तब लोभ की गुंजाइश ही कहां रह गई ? धन को अगर स्थायी मानो तब तो लोभ ? लोभ में यह आकृति अन्तःस्यूत है कि 'मैं' रहूंगा और मेरा धन भी रहेगा—जो कि मिथ्या है—चूंकि सब ही जगत है।—चल रहा है : एक 'चलना' ही है; 'है' कुछ नहीं। अगर धन है भी मानते हो तो किसका है वह ? किसी एक ही का तो नहीं हो सकता है वह, हो तो 'ईश' का है, सबों का ह—सबों का समान अधिकार है; तुम सबों के हो; सब तुम्हारे हैं—क्योंकि एक ही है, बाकी तो उसके प्रकाश ही हैं—कोई अलग नहीं, जैसे पानी में भांति भांति की लहरें, फेन, बुलबुले मालूम होने लगते हैं, उठते-पड़ते हैं, बदलते रहते हैं—सिर्फ़ कुछ क्षणों के लिये दिखावट है : दरअसल हमेशा है वही 'पानी'।—पानी ही पानी, बाकी सिर्फ़ दिखावटें हैं।

अगर साधारण टीकाओं का अर्थ लिया जाय तो भिन्नता

---

† मंत्र-३ ‡ मंत्र-२

को सत्य मानना पड़ेगा—तुम अलग, धन अलग, दूसरा भी अलग है। जिसका कि पहले चरण में निराकरण हो गया,—कुछ नहीं है, एक धारा चल रही है—सिर्फ है वही एक ईश—जिसका उल्लेख बाद के मंत्रों में 'आत्मा' कह कर किया है: 'ईशावास्यमिदम्' की जगह पर अगर 'आत्मना पूरितम्' कहा जाय तो शब्दों के व्यवहार में असामंजस्य न हो। 'ईश' कहने से एक अपने आपसे अलग 'ईश्वर' की कल्पना हो गयी।—'दो' आ गया, जिसका † निराकरण मंत्र के प्रथम चरण में है।

तब बात क्या निकली?

एक है=तुम हो वही—

योऽसावसौ पुरुष. सोऽहमस्मि—१६

लेकिन तुम अपने को अलग मान रहे हो, मुतरां उसी के साथ साथ अलग अलग सब मालूम हो रहा है।—काटना, काटना है इस अलगपन को; कैसे?

जिसे काटना है उसकी पूरी ‡ जानकारी हो तब तो? जिस जमीन पर गिर पड़ा—उसी को पकड़ कर उसी के सहारे ही तो उसे छोड़ना होगा—खड़ा होना होगा न? तब, बात क्या है?

कुछ-एक

वह है कैसा?	वह है क्या?
उसके गुण, क्रिया, आदि के रूप कैसे?	दरअसल वह है क्या?
क्या 'नियम' है? बाहर से देखना।	'है क्या'?—इसका स्वरूप?
—→ व्यवहार!	
—अविद्या—	—विद्या—
(Sciences, सब विज्ञान, श्रुति)	[तत्व—सत्य]
[तथ्य—दृश्य]	
—→ बाहर से क्या संबंध?	

'क्या' और कैसा?—दोनों के मिलने से वस्तु-सत्ता!

---

† मंत्र-३, आत्महनो जनाः—यही है हिंसा। द्वैत भाव में अद्वैत? हिंसा

वहिर्मुखता ← "मैं कुछ हूं" → अन्तर्मुखता

मैं **कैसा** हूं ?	मेरा—मैं	मैं **क्या** हूं ?
वाहर के साथ क्रिया-प्रतिक्रिया के रूप कैसे हैं, कैसे उन सबों के साथ मेरी स्थिति रहेगी—मैं कैसा हूं, तुम कैसे हो, वह कैसा है—आदि, आदि—उन सारी बातों की जानकारी से सबों के साथ चलने में आसानी—तकलीफ़ नहीं रहेगी, **बाहरी जीवन** सुख से वीतेगा = (मंत्र ६ का तब क्या तात्पर्य है ?—इसमें शरीर, वाहरी दुनिया, परिवार, समाज, देश, आदि सब सम्मिलित हैं) **—अविद्या—**	पर + अवर परावरज्ञ श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ गुरु—→ **मृत्यु का अतिक्रमण होगा**	दृष्टि अन्दर की ओर—(मैं हूं क्या ? किसे कह रहा हूं मैं—आदि, आदि) **—विद्या—** [अमृत—स्थिरता] [वहिर्मुखता + अन्तर्मुखता से अतीत =अध्यात्म =आत्मा में =अपने में

इन 'क्या' और 'कैसे' का फन्दा मिट गया—'दूसरों' के साथ अपना 'टक्कर' नष्ट हो गया, तो दूसरा और नहीं रह गया,—चूंकि तब तो 'मैं सब-कुछ हूं' हो गया जब तब किससे विरोध ? तब 'मैं कुछ नहीं हूं' हो गया : फिर कहां रह गया परिवर्तन, कहां रह गया कुछ ? सिर्फ़ वही "मैं" हूं, और कुछ नहीं ! !

केवल मैं, ब्रह्म, आत्मा, शून्य, और कुछ-नहीं है।

यही पूर्ण जीवन है, इसी के लिये ही अध्यात्म-योग है। कच्चे फल को पकना है : कच्चे फल के समग्र रूप को पार करना

है—भर जाना है—छोड़ना नहीं है, भागना नहीं है—भर कर, पक कर छुट जाना है : भरना है हर अंग में—व्यक्तिगत, परिवारगत, समाजगत, संस्कृतिगत, देशगत, ब्रह्माण्डगत—सारे अंगों में भर जाना है :

'सब' को आत्मसात् करना है, अपना करना है—पराया नहीं रह जाना है।

सब चाहों की परितृप्ति : और कुछ नहीं चाहिए, और कुछ नहीं है।

ये सब ईशोपनिषद के हैं : {सम्भूति = अविद्या
{असम्भूति-विनाश = विद्या

मंत्र २ :

> कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समा ।
> *एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।।*

—इस भाव से [मंत्र १] काम करते हुए शत वर्ष जीने की इच्छा करना [शत वर्ष = पूर्ण आयु = शतायुर्वै पुरुष]—इस तरह से चलने वाले तुम में कुछ गड़बड़ी नहीं होगी—कर्म का बन्धन नहीं होगा—दुःख-शोक नहीं होंगे।

मंत्र ३ :

> असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृता ।
> तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जना ।।

—जो लोग आत्महा [आत्मा को—एक को—अपने को हनन करते है, हिंसा करते हैं—टुकड़े करते हैं—'दो' करते है—अपने को दूसरों से अलग करते हैं (हिंसा का स्वरूप देखो)] होते है वे असूर्य—ज्योतिर्हीन—आनन्दहीन अन्ध तमस से—दुःख-शोक-भय से ग्रस्त स्थिति में रहते है।

'दो' नहीं है—'है' सिर्फ एक ही—मंत्र ६-७ : तत्र को मोह कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः ?—एक देखने वाले के लिये मोह क्या और शोक क्या ?

मंत्र ८ : इस 'एक' देखने वाले का काम कैसा होगा ?—वह 'कवि' मनीषी,—वह सब चीजों को 'यथातथ' रख कर चलता है—जो जैसा हो उसे वैसा ही देख कर चलता है :

मंत्र ९ : इस तरह चलने के लिये दृष्टि कैसी होनी चाहिए ? अपने भीतर-बाहर हर अंगों का ज्ञान होना चाहिए ; भीतर का ज्ञान विद्या, और बाहर का ज्ञान अविद्या :

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥

—जो लोग सिर्फ अविद्या की उपासना करते हैं वे लोग अन्ध तमस [blind darkness—चरम 'भय'-अशान्ति] में जाते हैं, पर जो लोग सिर्फ विद्या की उपासना करते हैं, विद्या में रत रहते हैं, उनका तमस और भी ज्यादह होता है—[मिलाओ—'West' and 'East']

तब उपाय क्या है ? Materialism vs Spiritualism ? नहीं :—

मंत्र १४ :

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥

—जो लोग विद्या और अविद्या को एक ही साथ जानते हैं—वे अविद्या की मदद से मृत्यु का अतिक्रम करते हैं और विद्या की मदद से अमृत को प्राप्त करते हैं । [मृत्यु=भौतिक दुःख-कष्ट='भय'=भयं वै मृत्युः=भय ही मृत्यु है=बाहर के discomfort ; Science ने क्या किया ? और अमृत=सुखदुःखातीत मृत्युंजय स्थिति=शोकान्तरं रूपम् । अपने आप में=आत्मस्थ=अद्वैत स्थिति । क्योंकि द्वैताद्वै भयं भवति । 'दो' रहने से ही भय होता है ।]

सुतरां, 'भागना' नहीं 'भोगना' है; भुंजीथाः—किस दृष्टि

से, किन साधनों से भोगना है—इन बातों का खुलासा हुआ न ? 'उद्देश्य'-लक्ष्य और उसका 'प्रयोजन' व 'साधन'—सबों का अंगांगी रूप से अन्वयन हुआ। कुछ भी छोड़ना नहीं—सबों को लेकर सबों को अपना कर उनमें अतीत होना है ताकि 'दो' का बोध ही, भान ही न रह जाय। Material, Spiritual का द्वन्द्व कहां ? 'पूरा' होना है 'पूरा'—अविद्या विद्या दोनों को एक ही साथ लेना है; इससे ही धीरता और इस धीरता से जो दृष्टि पैदा होती है वह एक ही देखता है, 'एक' की, अपने की,—'मैं' की—विचित्र प्रकाश में अनन्तता का अनुभव करता है—

तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा—
आनन्दरूपममृतं यद्विभाति ॥

रेन्द्र कुमार सिनहा

प्रसाद, १०-७-५८

शुभाशीर्वाद,

तुम्हारी श्रद्धा का निदर्शन पहुंच गया था—पर साथ ही साथ तुम लोग कश्मीर के लिए निकल पड़े थे—इसलिए प्राप्ति-स्वीकार हो नहीं सका! तुम्हारी, तुम दोनों की, दम्पती की यह श्रद्धा अमूल्य है! कल्याणी सबों को जितनी प्रिय, तुम भी तो उतना ही हो न?—तुम दोनों में तो भेद नहीं हो सकता!

विवाह? हां, विवाह तो मनुष्य की ओर से प्रकृति के लिए एक ललकार है, एक challenge है! कैसे? प्रकृति के प्रकृतित्व के ऊपर विजय की ध्वनि है; सो कैसे?

प्रकृति में है क्या? सब भिन्न है—भांति भांति के लोग, भांति भांति के पदार्थ—दो दो ही हैं, एक नहीं; सब अलग, हर तरह से अलग!

और विवाह? अलग को मिटाने की बुनियाद है:—

यदिदं हृदयं तव तदिदं हृदयं मम—
यदिदं हृदयं मम तदिदं हृदयं तव ॥

—यह जो तुम्हारा हृदय वह है मेरा हृदय: यह जो मे[रा]
हृदय वह है तुम्हारा!!—

"दो" को मिटा कर एक करने की प्रचेष्टा—
"मेरा" ही "तेरा" नहीं,—
"तेरा" भी "मेरा" है!
—→"मैं" "तू" हूं,—
तब ही "तू" "मैं" है!!
"तू" और "मैं" का अलगपन मिटा देने की आकुलि[त]
प्रकृति की भिन्नता के ऊपर विजय है:—

प्रकृति में चेतन पदार्थ का उदय एक पहेली है, एक रहस्य ! और इस चेतन में मनुष्य का होना, मानव का आविर्भाव है चुनौति प्रकृति के लिए : प्रकृति ने अपनी पराजय, अपनी मौत के लिए अपने ही अन्दर पैदा कर लिया इस मनुष्य को, और मनुष्य के लिए प्रत्यक्षत एक चमत्कार है यह विवाह !—विशेष रूप से वहन ! एक दूसरे का पूरा भार लेना—! मी भी कैसे ? जिस पर विजय पाना है, उसको जानना,—शत्रु का बलाबल, शत्रु का चाल, शत्रु का कौशल-विन्यास—सब जानकर ही न विजय ? प्रकृति पर विजय ? क्या है प्रकृति, क्या है उसका नियम ?

प्रत्यक्षत'—सब भिन्न है : अलग अलग हैं :

सुतरां अनिवार्य रूप से—

'प्रत्येक' ही अपने को चाहता है :

अपने को ही जानता है : दूसरे को नहीं।

तब ? कैसे दूसरे को अपनाया जाय ?—

—→दूसरे को उसी की चाह के अनुसार देकर !

अपने को छोड़ दूसरे के अनुसार होकर !

किसी को अपनी ओर खीच कर अपनाने का तरीका ?

—→अपने स्थान को छोड़ उसकी ओर जाना, उसे पकड़ना, फिर खीचना ! !

अपने स्थान पर डटा रहकर नहीं हो सकता.

वैसे ही न—मन को खीचना, प्राण को खीचना, हृदय को खीचना ?

—→प्रकृति के अपने शर्त पर ही उसे वश में लाया जा सकता !

यही है प्रकृति का नियम ! मनुष्य ने उस नियम को जाना-पहचाना,—और इस पहचान का प्रयोग है विवाह !

सम्पूर्ण मिलन ' शरीर-मन सबों का वहन है यह विवाह—

इसलिए—कामस्य द्वे भार्ये रतिश्च प्रीतिश्च.

काम की दो शक्तियां हैं—रति और प्रीति

रति शारीर सुख

प्रीति = मानस सुख !

और इस पूर्ण प्रत्यक्ष सुख है दो को मिटा कर एक होने में !

और इसलिए ही यह विवाह प्रकृति के लिए है—चुनौति ! !

नरेन्द्र कुमार सिनहा

प्रसाद, १०-७-५८

शुभाशीर्वाद,

तुम्हारी श्रद्धा का निदर्शन पहुंच गया था—पर साथ ही साथ तुम लोग कश्मीर के लिए निकल पड़े थे—इसलिए प्राप्ति-स्वीकार हो नहीं सका ! तुम्हारी, तुम दोनों की, दम्पती की यह श्रद्धा अमूल्य है ! कल्याणी सबों को जितनी प्रिय, तुम भी तो उतना ही हो न ?—तुम दोनों में तो भेद नहीं हो सकता !

विवाह ? हां, विवाह तो मनुष्य की ओर से प्रकृति के लिए एक ललकार है, एक challenge है ! कैसे ? प्रकृति के प्रकृतित्व के ऊपर विजय की ध्वनि है; सो कैसे ?

प्रकृति में है क्या ? सब भिन्न हैं—भांति भांति के लोग, भांति भांति के पदार्थ—दो दो ही हैं, एक नहीं; सब अलग, हर तरह से अलग !

और विवाह ? अलग को मिटाने की बुनियाद है :—

यादिदं हृदयं तव तदिदं हृदयं मम—
यदिदं हृदयं मम तदिदं हृदयं तव ॥

—यह जो तुम्हारा हृदय वह है मेरा हृदय : यह जो मेरा हृदय वह है तुम्हारा ! !—

"दो" को मिटा कर एक करने की प्रचेष्टा—
"मेरा" ही "तेरा" नहीं,—
"तेरा" भी "मेरा" है !
——→"मैं" "तू" हूं,—
तब ही "तू" "मैं" है ! !

"तू" और "मैं" का अलगपन मिटा देने की आकुति है प्रकृति की भिन्नता के ऊपर विजय है :—

प्रकृति में चेतन पदार्थ का उदय एक पहेली है, एक रहस्य ! और इस चेतन में मनुष्य का होना, मानव का आविर्भाव है चुनौति प्रकृति के लिए : प्रकृति ने अपनी पराजय, अपनी मौत के लिए अपने ही अन्दर पैदा कर लिया इस मनुष्य को, और मनुष्य के लिए प्रत्यक्षत. एक चमत्कार है यह विवाह !—विशेष रूप से वहन ! एक दूसरे का पूरा भार लेना—! सो भी कैसे ? जिस पर विजय पाना है, उसको जानना,—शत्रु का बलाबल, शत्रु का चाल, शत्रु का कौशल-विन्यास—सब जानकर ही न विजय ? प्रकृति पर विजय ? क्या है प्रकृति, क्या है उसका नियम ?

प्रत्यक्षत —सब भिन्न है : अलग अलग है :
सुतरां अनिवार्य रूप से—
'प्रत्येक' ही अपने को चाहता है :
अपने को ही जानता है · दूसरे को नहीं।

तब ? कैसे दूसरे को अपनाया जाय ?--

—→दूसरे को उसी की चाह के अनुसार देकर !
अपने को छोड़ दूसरे के अनुसार होकर !

किसी को अपनी ओर खीच कर अपनाने का तरीका ?

—→अपने स्थान को छोड़ उसकी ओर जाना, उसे पकड़ना, फिर खीचना !!
अपने स्थान पर डटा रहकर नही हो सकता ·

वैसे ही न—मन को खीचना, प्राण को खीचना, हृदय को खींचना ?

—→प्रकृति के अपने शर्त पर ही उसे वश में लाया जा सकता !

यही है प्रकृति का नियम ! मनुष्य ने उस नियम को जाना-पहचाना,—और इस पहचान का प्रयोग है विवाह !

सम्पूर्ण मिलन : शरीर-मन सबों का वहन है यह विवाह—
इसलिए—कामस्य द्वे भार्ये रतिश्च प्रीतिश्च
काम की दो शक्तियां है—रति और प्रीति .
रति - शारीर सुख
प्रीति = मानस सुख !

और इस पूर्ण प्रत्यक्ष सुख है दो को मिटा कर एक होने में !
और इसलिए ही यह विवाह प्रकृति के लिए है—चुनौति !!

और इसलिए ही मनुष्य जीवन एक रहस्य है, एक पहेली—
प्रज्ञानपाद

आश्रम, १२-१-५६

शुभाशीर्वाद,

तुम्हारे पत्र में "विज्ञान" और आइंस्टाइन के बारे में जो कुछ है वे सब निर्मूल नहीं लगता : विज्ञान की जययात्रा बन्द हो जाती अगर "असंभव" शब्द उसके साथ लग सकता ; ब्रूनो क्यों हंसते हंसते 'burnt at the stake ?' किन्होंने जलाया ? देखो, Dalton ने जब atomic theory निकाली तब atom शब्द (indivisible') लेने पर भी क्या संज्ञा दी ?—The smallest of matter that **has not yet been** divided—यह नहीं कि—'cannot be divided'!—फिर 'theorem' और 'theory' में क्या भेद ? 'व्यक्ति-सापेक्ष' ? हां, जब तक "व्यक्ति-सापेक्ष" तब तक 'theorem', पर जब उसे प्रयोग में सत्य प्रमाणित किया—जो प्रमाण, जो कोई कर सकता,—तब हुआ theory —व्यक्ति-निरपेक्ष ! पहले Science के आधार थे—

Conservation of matter
and
Conservation of energy :

अब "conservation of matter' कहां रहा ? 'Earth-bound'—हां ; gravitation से बाहर जाना "असंभव" ? नहीं, "अभी तक नहीं हुआ"; पर उस दिन Soviet ने man-made planet छोड़ दिया ! gravitation को जीत लिया ! कितनी बातें हैं ! हां, personal equation रहता है,—यह भी "विज्ञान" का ही कहना है ! "भौतिक" दृष्टि से earth-bound था—लेकिन आज ? चन्द्र, शुक्र, मंगल में बसने का बन्दोबस्त करने में लगे हुए हैं—**मनुष्य** ! ! तब ? असंभव ? तब मानसिक, आध्यात्मिक स्तर में—"व्यक्तित्व" को पार करना मनुष्य के लिए असंभव ? "बन्धन" से "मुक्ति"—असंभव ? तब मनुष्य

क्या ?—यह तो—"व्यक्ति-सापेक्ष", "परोक्ष", material दृष्टि है!!—बाहर ही बाहर!! Alexander जब सब दुनिया पर "विजय" पाकर गर्वित हुआ तब Aristotle ने कहा—"अभी अपने पर विजय पाना बाकी है!!" "बाहर" और "भीतर" दो जगत्!!—"विज्ञान" दोनों जगतों पर ही अपनी दृष्टि दौड़ाता है:—भारत को श्रेय है कि वह "भीतर" के जगत् पर जयी हुआ:—वह कहता है—

तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति ॥

—जो कुछ भी प्रकाशित हो रहा है, जिस किसी की भी सत्ता है, वह सब कुछ ही आनन्दरूप है, अमृत है!! ऊंच-नीच कहा ?

कौन कहता, "व्यक्ति" ?—नहीं, "धीरा" "परिपश्यन्ति"—"हर तरह से देखता है"—धीर जो है! "धीर" कौन है ?—

विकार-हेतौ सति विक्रियन्ते येषान्न चेतांसि ते एव धीरा. ॥

—बाहर विकार के कारणों के बावजूद जिनके चित्तों में विकार पैदा न होता वे ही धीर हैं!!

तब व्यक्ति ?

प्र०

अथ मर्त्योऽमृतो भवति—
जो मर्त्य था वह अमृत हुआ!—

आश्रम, ६-३-१९६३

शुभाशीर्वाद,

······ अं——के लिए काफ़ी अप्रिय और असमंजस बना देने वाली बातें ज़रूर हैं। और क्या करना है,—कुछ निर्णय पर पहुंचने की कोशिश करो ताकि स्वामी जी को इस मामले से मुक्ति मिले—नहीं तो अं——लिखता ही रहेगा।

उसके पत्र में से इन बातों पर ध्यान देना—(१) : फिर वही बात—diplomatically, strictly but softly : diplomatically=जो जैसा है उसे ठीक समझना, उसके अहंकार पर चोट नहीं देना, उसे नीचा नहीं करना,—उसके भावों के अनुसार उसे जीतना : strictly=जो point ठीक है उस पर दृढ़ रहना : like steel ; may be elastic but strong : softly and not severely : Don't wound : put your case deliberately in soft tone, appealing manner so as to put your case correctly but showing other's wrong. ......

खूब खबरदारी से चलो,—हो सके तो जल्द खत्म करो :—

प्र०

आश्रम, १३-३-६३

शुभाशीर्वाद,

ठीक है—तुम **स्वामी जी के प्रतिनिधि के रूप में काम कर** रहे हो।

एक बात याद आ रही है :

जब गांधी जी १९३१ में Round Table Conference

में गये थे—उसी सिलसिले में King George V ने उनसे पूछा था—Mr. Gandhi, you were a pillar and supporter of the empire during the Boer War,—I am in a fix, how can you be against it now !!

गांधी जी ने जवाब दिया था—सिर्फ एक ही वाक्य में :—

May I argue with your Majesty?—देखो, diplomatically, strongly and softly के हिसाब से कमाल है ! !

—He respected His Majesty—diplomatically :

Strongly—he meant, he does not want to argue,

—but expressed so
softly !

सुधांशु प्रकाश

आश्रम, ७-२-६७

शुभाशीर्वाद,

सुधांशु और शैल, तुम्हारा पत्र कल पहुंचा।

परेशान न होना,—हालत एक ही नहीं रहती, बदलना ही नियम है, शरीर में कभी कभी बीमारी का आना स्वाभाविक है—जब जैसा होवे तब उसे स्वीकार करना मंजूर करना है—हां, अभी ऐसा हुआ; और क्या किया जा सकता देखकर वैसा करना। दिल-दिमाग ठीक रहने से काम भी ठीक होता है।

सेवा करो,—जो आया सो जायगा, रहता कुछ भी नहीं। बन्दोबस्त करो और अपनी शक्तिभर दिल लगा कर सेवा करना। चिन्ता करने की कोई बात नहीं है। ······

प्र०

आश्रम, २१-१२-७३

सुधांशु,

······ जन्मदिन दिखाता है कि पैदा हुए कितने दिन बीते और इस बीच क्या किया इसकी तागीद : जीवन के लक्ष्य की ओर कहां तक चल रहा है और क्या बाकी है।

तुम अपनी शक्ति के अनुसार पूरा प्रयत्न करते रहो—

प्र०

गिरधर मूलजी चावड़ा

शुभाशीर्वाद,

रांची, २२-६-७०

...... हां, तुम्हारी प्रचेष्टा फलवती हो रही है, अच्छी बात है—"मिहनत करने पर मजदूरी मिलती ही है"—प्रकृति का यह नियम है।

मन को अपना दूसरा अवलम्बन न मिलने से दूसरे विषयों में रस न मिलने के कारण, वह मूल वासना—रस की ओर मन झुक गया—यही है—वस्तुस्थिति। और यह काम वासना मूल से चला न जाय जब तक तब तक इसे दूर करने का या दूर रखने का प्रयास मिथ्या भ्रम मात्र है। देखो उसको कितना जोर है. बिना "भोग" वह जायगा या नहीं।—याद रखना है कि वासना का लोप होता है कैसे—

भोग द्वारा तृप्ति की चेष्टा से और यह तृप्ति सभव नहीं है—यह जानने से, परीक्षा के बाद। 'जो है सो है' !!

"जो है सो है—बोलना बहुत आसान है !" यह 'बोलना' भी तो असत्य है। बोलना तब ही सत्य है या बोलने का अधिकार तब ही आता है जब काम मे, आचरण मे वह आ जाय !! नही तो कैसे मालूम है कि जो बोलते हो वह सत्य है ?!

आजकल theoretically or intellectually एक जगत खड़ा किया जाता है—मानों जीवन से अलग इसका अस्तित्व है !!

जो भी हो—प्रयोग के लिये यही सुकर पन्था है—

'सब ही भिन्न है—मुझसे सब भिन्न है'

या 'मैं हूं' ? तब 'वह भी है' !!

सिर्फ 'मैं' ही नहीं हूं कि 'मेरे' कसौटी पर सब चले !!—क्यों ?

'मैं' और 'वह'—भिन्न है—
'मैं', 'तुम', 'वह', 'यह'—क्या है सब ?
शब्द सब ही भिन्न है—
'मैं', 'तुम' नहीं, 'तुम' 'मैं' नहीं,—
'तुम' 'वह' नहीं, 'वह' 'तुम' नहीं—
तब ? असल में है क्या ?—
'मैं' मैं हूं, 'तुम' तुम हो, 'वह' वह है !!
'मेरा' मेरा ही है, 'तुम्हारा' तुम्हारा ही है—
'वह-का' या 'उसका' उसका ही है—
'मेरा' कभी 'तुम्हारा' नहीं—
तब ? 'मैं' मैं ही हूं—और 'तुम' तुम ही हो—'वह' वह ही है !! 'मैं' तुमसे कुछ भी 'आशा' नहीं कर सकता, क्यों [कि] मेरी आशा तो 'मेरी' ही है, तुम कैसे मेरी आशा के अनुसार कर सकते ?!

तब तो आराम है—तुम्हारा करना तुम्हारा ही है, मुझे अधिकार नहीं है—तुमसे आशा करने का, तुमको विचार करने का !!

लेकिन—'आशा' करना, आशा पूर्ण हो तो खुशी, न हो तो नाराजगी, क्रोध !! यह कौन करता है ? मन !! मन देखता नहीं—कि तुम तुम हो, वह वह है—उल्टे तुम मेरे मन के अनुसार करो—यही सोचता है—'तुम्हारी' जगह पर अपने को बैठाना चाहता है—'तुम' को ढक कर !!! तुमसे अलग कुछ चाहता है !!

यही है विडम्बना !!

तुम 'देखते' हो—मन 'सोचता' है। और इस सोचने से—भावों का emotions का उदय है।

—तब ? 'मैं' जब 'मैं' रहे तब 'तुम' तुम, 'वह' वह !! नहीं तो मन बीच में आकर ढक देता है—सुख-दुःख, हर्ष-शोक, क्रोध-घृणा तैयार करता है।

यही 'भूल' का 'माया' का चक्र—vicious circle !!

तब ? सत्य क्या है ?
देखना है, सोचना नही !!

प्र०

आश्रम रांची, १-११-७१

"आपका पत्र आने के बाद द्वन्द्व और वासना का जोर कम दिखलाई पड़ता है"—"आपकी कृपा से देखता हू"—हां, यही 'देखना' यही आधार है 'ज्ञान' का, 'प्रज्ञान' का !! 'मन' देखने नही देता, वह खीच लेता है दूसरी ओर; 'जो है' वह नहीं, 'और दूसरा' कुछ चाहिए यही है 'मन' का स्वरूप !! इसी का नाम है 'माया' !! —'जो है'—उसे न देखकर, मन दूसरा और कुछ चाहता है—यही 'देखना' और 'चाहना'—इनमे खेल है !! 'देखने' में रहने से 'चाहना' खत्म, बल्कि 'चाहना' का उदय ही नही हो सकता।

"अब काम की फिकर नही होती है—कभी-कभी होती है तो तुरन्त देखने से नष्ट हो जाती है"—ठीक है। 'काम' के बारे में एक ही बात पर नजर रखनी है—वह है 'त्याग करना' नही 'त्याग होना' है—'छोड़ना' नही, 'छुट जाना' है !! इस रहस्य को भली-भांति पकड़ना है। 'त्याग' से ही अमृतत्व है, त्याग करने से विडम्बना है। और इस त्याग का आधार है—'देखना'।

'व्यक्ति' सोचता है, चाहता है—

'मनुष्य' देखता है, और जो आता है, उसे लेता है।

'देख' सकने से ही 'मनुष्यत्व' का उदय होता है—और ज्यों ज्यों यह 'सोचना' घटता जाय त्यो त्यो 'देखने' की शक्ति का स्फुरण होवे ! 'देखने' 'होने' को ढक देता है वह 'सोचना' और 'चाहना' —और यह है—'बाहर की ओर' !! तब ?

व्यक्ति – बाहर की ओर लपकता है—'बाहर' ही सब कुछ है जिसके लिये।

मनुष्य—पुरुष—"बाहर" से "अन्दर" की ओर जाता है—

"सोचना" घट रहा है—

"आंशिक" मनुष्य —"देखना" आ रहा है—

पुरुषोत्तम—"वाहर" कुछ नहीं है—जैसा अन्दर वैसा ही "वाहर" ! !

"मनुष्य"—जिसमें "वाहर" "अन्दर" का भेद नहीं है—जो है सो है !

"मनुष्य" से श्रेष्ठतर कुछ नहीं है—

प्र०

आश्रम रांची, १५-८-७२

हां, गिरिधर हां,—"होना चाहिए"—यही प्रधान आवरण है मन का, जो सव 'है' को ढक देता है और भांति-भांति के रूपों को पैदा कर फंसाता रहता है। सिर्फ 'सजग' रहने से रास्ता साफ होता रहेगा।

जो भी हो, जो भी वासना हो—अस्वीकार नहीं करना, अस्वीकार करने से उसका जोर और भी बढ़ जाता है—स्वीकार करने से घटता है। तब देखना है—क्या करना है इस स्थिति में :—

स्वीकार, स्वीकार, स्वीकार ! !

प्र०

आश्रम रांची, ६-१-७३

बाबुल,

वहा के काम से तुमको जब काफी सन्तोष है तब असंभव न होने से वही पर † काम पूरा कर वहां की कुछ मजुरी लेकर आ सको तो वही अच्छा है, लौटने के लिये जल्दबाजी नही करना। और सब समय पर ठीक ही हो जायगा।

प्रत्येक दो—भिन्न है—प्रत्येक देश भिन्न है—जो अपने स्थान मे दृढ़ रह कर बाहर से जैसी जरूरत लेता है उसकी वृद्धि होती है,—जैसे पौधे! अपने मूल पर है पर चारों ओर के आलोर-वायु लेकर बढ़ता रहता है।—'अस्वीकार' नहीं। आनन्द से रहो—

प्र०

Seez Moulins, ३०-७-७३

शुभाशीर्वाद,

...... सगाई के बाद तुम जो एक साल ठहरने की बात कहते हो, वह ठीक है—वैसा पिताजी को लिख दिया। साथ ही साथ यह बात लिखी गयी ··· कि जब सगाई हो गया—तब विवाह निश्चित हुआ—इस स्थिति से 'नूतन' का फ़ोटो तुम्हारे पास और तुम्हारा फोटो नूतन' के पास रहना है और तुम दोनों आपस में पत्रव्यवहार से भाव-विनिमय करते हुए एक दूसरे के पास आकर एक दूसरे को 'अपना' सको—इसलिये तुम दोनों में पत्र-व्यवहार का सुयोग कर देना चाहिए। ......

प्र०

† मैं तब अमरीका में पढ़ने के लिये गया हुआ था।

आश्रम रांची, १-७-७४

शुभाशीर्वाद,

...... पता चला कि तुम्हारे विमान में कुछ गड़बड़ी हुयी थी—पर तुम लोगों को कोई खास असुविधा नहीं हुयी।

तब "घटना" को किस दृष्टि से लेना? "घटना" को "घटना" की दृष्टि से ही लेना—क्यों? क्योंकि वैसा हुआ; होना नहीं चाहिए या दूसरा कुछ होना चाहिए—यह कौन कहता है? तुम!! यानी तुम्हारे इसारे पर दुनिया चले!! अपने में वन्द,—संकीर्णता में वन्द—कुछ "नया" नहीं होना चाहिए—यही न? पर संसार में प्रकृति में घटनाएं घटती जाती हैं—यही है नियम, उसके साथ अपने को मिलाना है—कैसे?

यही अब हुआ—नया हुआ—नूतन हुआ, तब? उसके साथ चलने में ही अपना विस्तार अपनी वृद्धि हुयी!! सब नूतन, सब नूतन—यही नूतन ही तुम्हारी शक्ति है! ......

चलो, बच्चा, चलो, स्थिर-धीर रह कर आगे बढ़ो!

प्र०

आश्रम रांची, २७-७-७४

शुभाशीर्वाद,

बहुत नजदीक दोनों घर होने से इस तरह की गड़बड़ी हो सकती।† जब नूतन तुम्हारे घर पर रहेगी तब ज्यादह उसको अपनी मां के पास बुलाना ठीक नहीं है। गलतफ़हमी होने की गुंजाइश रहेगी—खासकर तुम्हारे श्वसुर का व्यवहार इस संबंध में काफ़ी सतर्क होना चाहिए क्योंकि वे धनी आदि हैं। कुछ झुक कर आगे वह बर्ताव नहीं करेगा, तुम्हारे मां-पिताजी का सम्मान नहीं रखेगा तो गलतफ़हमी अनिवार्य होगी।

जहां तक हो सके तुम नूतन को लिख सकते हो कि जैसा

† मेरा कुछ ही समय पहले विवाह हुआ था और मेरी ससुराल पटने में हमारे घर के काफ़ी नजदीक थी।

तुम दोनों में पहले ही तय हुआ था उसी के अनुसार वह दिसम्बर के पहले अमेरिका आना न चाहे।‡ कुछ दिन मां-पिताजी के पास वह रहे पहले तो ठीक होगा। तुम्हारे पास तो नूतन आयगी ही तुम्हारे पास ही उसका स्थान है—सिर्फ पहले कुछ दिन मां-पिताजी के पास रहने से इनका दिल भरेगा, नहीं तो उनके मन में यही होगा—बावुल भी हम लोगों से अलग हो गया,—'पर' हो गया! तुम नूतन को, और हो सके तो उसके माता-पिता को सरल भाव से विनय के साथ वैसा लिख सकते हो—तुम को दोनों पक्षों को बचाना है, खासकर मां-पिताजी को—विवाह के बाद लड़के की हालत नाजुक होती है।

खूब सावधान रहना—इन सब बातों से अपनी पढ़ाई आदि के कामों में कुछ आंच न लगे।

धीर होकर चलो—

ठ०

आश्रम रांची, १७-६-७४

नूतन,

बावुल का पत्र साथ लेकर तुम्हारा पत्र पहुंचा। "हम अपनी इच्छा से ही इनके साथ नहीं गए और इन्हें हंसते हंसते विदा किया। लेकिन इनके जाने के बाद मन बहुत ही अशान्त रहने लगा है। बात बात पर खूब रोने की इच्छा होती है ....।" आदि—ठीक है रे पगली,—तुम्हारा पहला अनुभव था दिल मिलने का इसलिये 'विदा' होने से रोना!! अब तो समय से कुछ शान्त हो ही हो—अब कुछ देखने की कोशिश करना। क्या देखोगी?

वही 'नूतन'!! कुछ हुआ। बावुल तुम्हारे जीवन में आया; जरूर ही आया; पर आया मानो 'रहेगा'? अमेरिका जाने से रोना आया,—लेकिन तुमको छोड़ कर हमेशा ही जाता रहा—हमेशा तुम्हारे साथ ही नहीं रहा, न? बाहर जाना, घर में भी कोई आए तो उसके साथ बात करने जाना, अपना नित्यकर्म आदि के

‡ विवाह के कुछ काल बाद मैं अकेला अमरीका लौट गया था।

लिये जाना—देखो विस्तार से, तुम्हारे साथ हमेशा चिपके नहीं रहा न? तब उन समयों में क्यों नहीं—"रोयी", मन क्यों नहीं "अशान्त" हुआ? तुम्हारे 'मन' में था—'गए, अभी आएंगे; और अब चूंकि अमेरिका दूर पर है अभी नहीं आएंगे—यही न? लेकिन आने के साथ जाना है ही, हमेशा साथ रहना नहीं हो सकता। और "साथ?" कितना ही नजदीक क्यों न हो 'दोनों' तो अलग ही रहना है; हां, अगर तुम उसकी गोदी में बैठ जाओ तो 'एक' हो गए!! लेकिन कितनी देर तक रह सकोगी, रे पगली? वह 'थक' जाएगा, तुमको उतरना ही होगा न? तब स्थूल रूप से शारीरिक रूप से एक साथ हमेशा रहना संभव नहीं है, लेकिन दिल में? तुम दिल में रख लिया तो? तब, मां? दिल में रखो,—यह भी नूतन?

और इस तरह से अशान्त होने से फल क्या? वह भी दुःखित था—तुमको छोड़ जाने से, लेकिन जाना तो था ही, तब तुम अगर रोती हो, दुःख में हो—यह अगर वह देखे तो उसका दिल तुम्हारी ओर खींचा रहेगा; 'रोना' मानी 'रहे', 'न-जाए'—यही न? लेकिन जाना है, काम है,—तब? वह दोनों ओर से खींचाव से क्या करेगा? इसलिये खुशी से छोड़ देना—ताकि वह निश्चिन्त होकर जाए—अपना काम करे, तब न तुम्हारी और सबों की सेवा?! देखो, पगली, देखो, तुम भी अब अपना काम करो—फिर!! साथ के दोनों पत्र—शैल और योगेन्द्र को—देना।

स्वामी जी के शुभाशीर्वाद लेना।

आश्रम रांची, १-८-७४

नूतन,

तुम्हारा सुन्दर पत्र आया।

हां, सत्य बहुत ही सहज और सरल है,—उसे ठीक ठीक देख-जान कर जीवन के हर क्षण में चलने की चेष्टा करने से जीवन शक्ति-सुख-शान्ति से भरा रहता है।

हां, रे पगली, आने के साथ जाना है ही, 'आना' यदि मंजूर है तो 'जाना' भी मंजूर करना है—एक कागज का टुकड़ा है, समतल,

plane है न ? इसे अगर तुम मोड़ कर एक 'कप' सा बनाओ जिसे concave कहो तो साथ ही साथ दूसरी तरफ देखो, ऊंचा हो गया convex। सच ? 'concave' चाहो तो साथ ही साथ convex आ गया ; convex नहीं चाहिए, बेस, उसे दबा दो—तुम्हारा concave भी चला गया न ? रहा समतल, plane !! वैसे ही दुःख-सुख, आना-जाना, अनुकूल-प्रतिकूल, 'दो' की जोड़ी !! एक चाहो तो दूसरा आवेगा ही—देखो देखो—

तुम्हारी अपनी परीक्षा के लिये तैयारी करो—उसके बाद दिसम्बर में बाबुल के पास जाओगी न ? तब तक वह भी खुशी के साथ अपना काम करे :—तुम आनन्द में हो यही उसे हमेशा लिखती रहना—वह दूर पर है न ? शुभाशीर्वाद लेना—

प०

[तारीख नहीं मालूम

Majority क्या है? Minority से outgrow करना है। तव minority क्या है? dependence है, liking—dependence है : अपनी पसन्द या liking के भीतर से ही सब कुछ देखना है : majority है तव independence, self-dependence : capacity to see, understand and feel for what is what : जो-जैसा—उसे वैसा देखना—दूसरों के **terms** पर अपने को चलाना;—पहले "वह" वाद को "मैं"!!

स्वामी जी क्या हैं? स्वामी जी 'सन्यासी' है,—जिससे वाहरी सव कुछ interest छुट गया है—स्वामी जी **प्रज्ञानपाद** है—seat of प्रज्ञान है—manifestation or expression of प्रज्ञान, truth, awareness, truth-realisation, awareness of **what is** है, and not awareness of what is happening or what 'appears to be'! इसलिये इस 'appearance' के अन्दर जो-है—जो **what is** उसी के लिये ही स्वामी जी ले चलने वाले हैं।

इसलिये स्वामी जी से कुछ आशा करना, कुछ मांग रखना —असत्य है। जो असत्य है, जो emotional मांग है और जिसके चलते सत्य दिखाई नहीं देता, गलतियां होती रहती हैं—उन गलतिओं को देख कर उन्हें स्वीकार कर उनसे छुटकारा चाहनेवाला स्वामी जी के पास आता है—उन गलतिओं से छुटने के लिये उपाय जानने के लिये।

दूसरी कुछ भी इच्छा या मांग की गुंजाइश यहां नहीं है: और इसलिये स्वामी जी जो देते हैं,—जो कहते हैं—जैसा चलने के लिये कहते हैं—उन्हें अपनाने में, स्वीकार करने में रुचि, interest, inclination होना है without doubt, without

prejudice, without any question! काम करते रहना है, चलते रहना है और फिर कुछ शंका doubt हो तो उन्हें समयानुसार सुलझ लेने की कोशिश अवश्य ही करनी है: यानी पहले ही एक 'हां,' glad heart-felt acceptance! 'ना' नहीं! Like a child :—'Yes' 'हां' !—Eager inquisitiveness, simple, tender, graceful, sweet!— but convinced, strongly determined, persistent!

Negatively : स्वामी जी के लिए कोई अपना नहीं (और बाकी पराया)

Positively : स्वामी जी के लिये सब अपना, सबों में स्वामी जी!

इसलिये : स्वामी जी को चाहना=सबों को चाहना: सबों के साथ (जब जहां जिनसे सम्पर्क) मिल सकने, सबों को अपनाने से ही स्वामी जी के पास आना संभव होता है।

[तारीख नहीं मालूम

Man is seldom, hardly an individual.

Man is person—one in relationships.

मनुष्य होता है जब कि मनुष्य जन्म मिला ←

Man to be man

मनुष्य के लिये एक ही काम है तेरे लिये →

अपने को जानो—know thyself : कैसे ?—यह जानना→ मैं क्या हूं अभी→ 'अन्दर' और 'बाहर'—internally, individually, subjectively—and externally, personally,—socially, objectively :—

और इस 'अन्दर' को 'बाहर' के साथ मिलाने, सामंजस्य में लाने, अन्त में उसी में मिल जाने, merge कर जाने की कोशिश, —यानी हमेशा 'बाहर' की ओर दृष्टि जैसे—सूर्यमुखी फुल—सुबह

से शाम तक सुर्य की ओर ताकते हुए अपना मुख घुमाता रहता है : वैसे ही बाहर के साथ सम्पर्क, सम्बन्ध **relationships** में मैं क्या हूं—यह देखना, जानना और वही मैं हूं—इसे justify करना, reconcile करना, fulfil करना, अपनाना, वही हो जाना : और कोई विकल्प नहीं, alternative नहीं—नहीं तो मैं मैं नहीं रह जाता, आत्मघात होता, अपनी हत्या होती :

Pliability, adaptability to relationships !

Rigidity का बराबर का अन्त !!

परिशिष्ट : संक्षिप्त परिचय

१-२. योगेन्द्र नारायण वर्मा (जन्म १९०४) और शैलजा देवी (जन्म १९०८) : विवाह, १९२२; सन्तति : शान्ता मंजु * (१९२६), सुधा * (१९२९), ऊषा * (१९३४), कल्याणी (१९३५), अमित * (१९४८), सुधांशु * (१९५१), स्वामी जी से सम्पर्क : योगेन्द्र—१९२२ में, शैलजा—१९२६ में।

३. सुमंगल प्रकाश (जन्म १९०५) : विवाह (१९३९)—मिनति देवी से, स्वामी जी से सम्पर्क १९२३ में।

४. शान्ता मंजु (जन्म १९२६) : विवाह १९४३—महेश नन्दन प्रसाद सिंह से; सन्तति : राजकमल शिरोमणि (१९४७), स्वामी जी से सम्पर्क : शैशव अवस्था से।

५. सुधा वर्मा (जन्म १९२९). विवाह १९४९—अवध किशोर नारायण से, सन्तति : कमलशील (१९५०), मधुछन्दा (१९५२), आनन्दशील (१९५५), मधुनन्दा (१९५७), मधुकान्ता (१९५९), स्वामी जी से सम्पर्क : शैशव अवस्था से।

६. ऊषा नारायण (जन्म १९३४) : विवाह १९६१—अवध किशोर नारायण से, स्वामी जी से सम्पर्क : १९३८।

७. श्री प्रकाश (काशी विद्यापीठ में स्वामी जी के सहयोगी) : यह पत्र सुमंगल प्रकाश से प्राप्त हुआ, जिन्हें स्वामी जी ने इसकी प्रतिलिपि भेजी थी।

८. सुरेन्द्र (अल्पकाल के लिये स्वामी जी के सम्पर्क में आए एक सज्जन), यह पत्र सुमंगल प्रकाश से प्राप्त हुआ, जिन्हें स्वामी जी ने इसकी प्रतिलिपि भेजी थी।

९. नरेन्द्र कुमार सिन्हा (जन्म १९३५) : विवाह १९५८—कल्याणी से; सन्तति : कीर्तिलेखा (१९५९), प्रीतिलेखा (१९६०), दीप्तिलेखा (१९६३), कौशल (१९६४), कुन्तल (१९६५); स्वामी जी से सम्पर्क : १९५८ में।

---

* ये स्वयं भी पत्र पाने वालों में हैं।

१०. श्रीनाथ शर्मा (जन्म १९२२) : विवाह १९५१—माया से; सन्तति : कल्पना (१९५३), मधुलिका (१९५६), योगेश (१९६०); स्वामी जी से सम्पर्क : १९६० में।

११. सुधांशु प्रकाश (जन्म १९५१) : विवाह १९७८—मधु से; सन्तति : श्रद्धा (१९७९); स्वामी जी से सम्पर्क : शैशव अवस्था से।

१२. गिरधर मूलजी चावड़ा (जन्म १९१८) : विवाह १९४७—अनसूया से; सन्तति : प्रवीणचन्द्र (१९४८), विद्याधर (१९५०), पुष्पा (१९५३), शशि (१९५४); स्वामी जी से सम्पर्क : १९६० में।

१३-१४. अमित प्रकाश (जन्म १९४८) और नूतन (जन्म १९५३) : विवाह १९७४; सन्तति : शाश्वत (१९७६); स्वामी जी से सम्पर्क : अमित—शैशव अवस्था से, नूतन—१९७४ में।

१५. अज्ञात : ये पत्र मिनति देवी से प्राप्त हुए हैं जिन्हें स्वामी जी ने उनसे अपनी कापी में लिख लेने के लिये कहा था; किन्तु ये किन्हें लिखे गये थे यह उन्हें नहीं मालूम।